देवीकालोत्तरागमः

सम्पादकोऽनुवादकश्च

राष्ट्रियपण्डितः श्रीव्रजवल्लभद्विवेदः



प्रकाशकः

शैवभारती-शोधप्रतिष्ठानम्

जंगमवाड़ीमठ, वाराणसी - २२१ ००१

शोधप्रकाशन ग्रन्थमाला — २१

देवीकालोत्तरागमः

निरञ्जनसिद्धविरचितवृत्त्या

भाषानुवादेन च सहितः

सम्पादकोऽनुवादकश्च

राष्ट्रियपण्डितः श्रीव्रजवल्लभद्विवेदः

शैवभारती-शोधप्रतिष्ठान-निदेशकः

प्रकाशकः

शैवभारती-शोधप्रतिष्ठानम्

जंगमवाड़ीमठ, वाराणसी - २२१ ००१

प्रकाशक :
शैवभारती-शोधप्रतिष्ठानम्
डी. ३५/७७, जंगमवाड़ी मठ
वाराणसी - २२१ ००१

प्रथम संस्करण २०००

मूल्य : सजिल्द रु० १५०/-
अजिल्द रु० १००/-

अक्षर संयोजन :
शिव-शक्ति कम्प्यूटर प्रोसेस
जंगमवाड़ी मठ, वाराणसी

मुद्रक :
जौहरी प्रिंटर्स
शिवाजी नगर, महमूरगंज, वाराणसी

Research Publications Series — 21

DEVĪKĀLOTTARĀGAMAḤ

Commentary in Sanskrit

by

NIRAÑJANASIDDHA

Edited with Hindi Translation By

Pt. Vrajavallabha Dwivedi

Director, Shaiva Bharati Shodha Pratishthanam

SHAIVA BHARATI SHODHA PRATISHTHANAM

D. 35/77, Jangamawadimath, Varanasi - 221 001

Published by :
SHAIVA BHARATI SHODHA PRATISHTHANAM
D. 35/77, Jangamawadimath
Varanasi - 221 001

ISBN 81-86768-39-4 (Hb)
ISBN 81-86768-40-8 (Pb)

First published 2000

Price : Rs. 150 (Hb) Rs. 100 (Pb)

Laser Typeset at :
Shiva-Shakti Computer Process
Jangamawadimath, Varanasi - 221 001

Printed at :
Jauhari Printers
Mahamoorganj, Varanasi

श्रीमद् गिरिराज श्रीशैल सूर्यसिंहासन शाखा
चौलहिरीयूर हिरेमठ परम्परागत वीरापुर हिरेमठ के
श्री लिंगैक्य ष. ब्र. चन्नवीर देशिकेन्द्र शिवाचार्य स्वामीजी की
स्मृति में



सादर समर्पित

ब्रजवल्लभ द्विवेदी

शैवभारती-शोधप्रतिष्ठान के संस्थापक



श्री काशी विश्वाराध्य ज्ञानसिंहासनाधीश्वर

श्री १००८ जगद्गुरु डॉ. चन्द्रशेखर शिवाचार्य महास्वामीजी का

शुभाशीर्वचन

भारतीय सनातन धर्म-दर्शनों का मूल स्रोत निगम और आगम ही है। इनमें आगम-साहित्य के प्रचार-प्रसार के लिए अनेक विश्वविद्यालयों और अनुसन्धान संस्थानों से अनेक अप्रकाशित ग्रन्थों का प्रकाशन कार्य चल रहा है। राष्ट्रिय संस्कृत संस्थान (नई दिल्ली) द्वारा मान्यता-प्राप्त हमारे काशी जंगमवाड़ी मठ के शैवभारती शोधप्रतिष्ठान के द्वारा भी चन्द्रज्ञान, सूक्ष्म, मकुट, कारण, पारमेश्वर जैसे आगमों का प्रकाशन हो चुका है। अब इसी शृंखला में देवीकालोत्तर नामक आगम का शिवार्पण करते हुए हमें अपार हर्ष का अनुभव हो रहा है।

कामिक से लेकर वातुल पर्यन्त २८ सिद्धान्त शैवागमों और उनके २०७ उपागमों की नामावली विभिन्न ग्रन्थों में उपलब्ध होती है। वहाँ यह नाम नहीं मिलता, किन्तु २८ वें वातुलागम के उपागमों में कालज्ञान नाम उपलब्ध है। प्रस्तुत ग्रन्थ में भी कालज्ञान की चर्चा मिलती है। अभी इसके विषय में कुछ निश्चित रूप से कहा नहीं जा सकता, तो भी इसमें अनेक अमूल्य विषय प्रतिपादित हैं। इस आगम का एक ही पटल उपलब्ध है। इस पटल में देवी पार्वती भगवान् शिव के सामने ज्ञान और आचार के विषय में अपनी जिज्ञासा

व्यक्त करती हैं और भगवान् शिव ज्ञान और आचार का मोक्ष के उपाय के रूप में उपदेश करते हैं, साथ ही कालज्ञान की उपादेयता को भी स्पष्ट करते हैं। इस ग्रन्थ का पाठक किस प्रकार अपने चित्त को स्थिर करके परम ज्ञान को प्राप्त कर किस तरह से मोक्ष का अधिकारी बन जाता है, इस विषय को विस्तार से सुचारु रूप से समझाया है। प्रसंग के अनुसार योग का तथा यौगिक साधना में निरत साधक के चित्त की अवस्थाओं का भी वर्णन यहाँ किया गया है। इस ग्रन्थ में बाह्य से अधिक आन्तर पूजा तथा आचार को महत्त्व दिया गया है। उत्कृष्ट आचरण, योगसाधना तथा परम ज्ञान के द्वारा शिवयोगी परम कैवल्य को प्राप्त कर लेता है। इतना ही नहीं, यहाँ यह भी कहा गया है कि कैवल्य को प्राप्त जीवन्मुक्त शिवयोगी की सेवा करने वाला भी मुक्त हो जाता है।

श्री निरंजन सिद्ध ने इस आगम के ऊपर संस्कृत में वृत्ति लिखी है। हिन्दी में इसका अनुवाद अभी तक नहीं हो पाया था। हमारे शैवभारती शोधप्रतिष्ठान के निदेशक, राष्ट्रियपंडित श्री व्रजवल्लभ द्विवेदी इस आगम का तथा साथ ही साथ संस्कृत वृत्ति का भी हिन्दी भाषा में अनुवाद कर आगम साहित्य को महत्त्वपूर्ण योगदान दे रहे हैं। इन्हींके मार्ग-दर्शन में शैवभारती शोधप्रतिष्ठान के सभी कार्य सुचारु रूप से चल रहे हैं। हम आशा करते हैं कि इनके कुशल निर्देशकत्व में यह शोध प्रतिष्ठान अतिशीघ्र उच्च कोटि का शोध संस्थान बन जायगा।

प्रस्तुत ग्रन्थ के विषय में श्री द्विवेदी जी ने अपनी प्रस्तावना में पर्याप्त जानकारी दी है। टिप्पणियों के माध्यम से कुछ विशिष्ट पारिभाषिक शब्दों के भाव को स्पष्ट करने का भी यहाँ प्रयत्न किया गया है। स्वयं वृत्तिकार ने भी अनेक पारिभाषिक शब्दों की सुस्पष्ट व्याख्या की है। इस तरह के सभी शब्दों को यहाँ विशेष-पदसूची में स्थाननिर्देश पूर्वक संगृहीत कर दिया गया है। अन्य परिशिष्टों के माध्यम से ग्रन्थ की श्लोकार्धसूची, वृत्ति में उपन्यस्त वचनों की सूची और ग्रन्थ-ग्रन्थकार व मत-मतान्तर सूची का संयोजन पाठकों की सुविधा की दृष्टि से किया गया है। इस कार्य में हमारे गुरुकुल के शोध-छात्र श्री सिद्धरामदेव हिप्परगी ने महनीय सहयोग किया है।

इस प्रसंग में प्रस्तुत ग्रन्थ के कुछ विशिष्ट विषयों की संक्षिप्त चर्चा कर देना आवश्यक लगता है। ज्ञान और चर्या का प्रतिपादन तो इस ग्रन्थ का मुख्य विषय है ही, वृत्तिकार ने अन्य भी अनेक विषयों की चर्चा की है और उनमें से

कुछ विषयों का विश्लेषण श्री द्विवेदी जी ने अपनी प्रस्तावना में किया है। हम जानते हैं कि आगमों में ज्ञान, क्रिया, योग और चर्या नामक चार पाद हैं। इन चार पादों में प्रतिपाद्य विषयों की चर्चा अनेक ग्रन्थों में की गई है, किन्तु यहाँ (पृ. १६-१७) वृत्तिकार द्वारा प्रदत्त क्रिया और चर्या की परिभाषा अनितर साधारण रूप से अवधेय है। इसी तरह से दीक्षा (पृ. २३) और मल का लक्षण (पृ. २३), पंचविध और दशविध नियमों का निरूपण (पृ. ५९-६०) जैसे विषय यहाँ सुस्पष्ट रूप से निदर्शित हैं। रूपयोग (पृ. १३-१४) और अष्टोपचार (पृ. १७) का भी वृत्तिकार ने उल्लेख किया है और सम्पादक महोदय ने इन स्थलों पर टिप्पणियाँ भी की हैं, किन्तु रूपयोग के विषय में अभी विशेष विचार अपेक्षित हैं। अष्टोपचार पूजा का विवरण वीरशैव शास्त्रों में उपलब्ध है। तदनुसार अष्टोपचार पूजा में जल (स्नान), गन्ध, अक्षत, पत्र-पुष्प, धूप, दीप, नैवेद्य और ताम्बूल का समावेश है। त्रिकाय-सेवा शब्द यहाँ (पृ. ८३) उपलब्ध है। वीरशैव मत के अनुसार इसके स्थान पर त्रिकरण सेवा शब्द प्रयुक्त होना चाहिये। मन, वाणी और शरीर के लिये त्रिकरण शब्द का प्रयोग यहाँ अनेक स्थलों पर हुआ है।

काशी हिन्दू विश्वविद्यालय के केन्द्रीय ग्रन्थालय में सेवारत डॉ० जी० सी० केण्डदमठ ने इस ग्रन्थ का अक्षर संयोजन कराया है एवं जंगमवाडी मठ के शिव-शक्ति कम्प्यूटर प्रोसेस में कार्यरत श्री राजशेखर जी० हिरेमठ ने अक्षर संयोजन किया है। हम इन सबको मङ्गल कामनाओं के साथ शुभाशीर्वाद देते हैं। देवीकालोत्तरागम के अनुवादक पं० श्री व्रजवल्लभ द्विवेदी जी की आयुरारोग्य की कामना करते हुए इनके द्वारा इसी तरह साहित्य सेवा तथा हमारी शोध संस्था की अभिवृद्धि होती रहे, ऐसी मङ्गलमय कामनाओं के साथ हम अपने आशीर्वचन को पूर्ण करते हैं।



प्रस्तावना

हुबली से कन्नड़ लिपि में वातुलशुद्धाख्यतन्त्र, सूक्ष्मतन्त्र, पारमेश्वरतन्त्र और देवीकालोत्तर नामक चार ग्रन्थों का प्रकाशन हुआ था और देवीकालोत्तर की निरंजनसिद्ध विरचित वृत्ति का प्रकाशन ग्रन्थाक्षर में हुआ था। इन्हीं के आधार पर सम्पूर्णानन्द संस्कृत विश्वविद्यालय की योगतन्त्र ग्रन्थमाला के चतुर्थ पुष्प के रूप में प्रकाशित तन्त्रसंग्रह के द्वितीय भाग में अन्य पाँच तन्त्रों के साथ सवृत्तिक देवीकालोत्तर का देवनागरी संस्करण सन् १९७० में प्रकाशित हुआ। उसीके आधार पर यहाँ उक्त ग्रन्थ को भाषानुवाद के साथ प्रकाशित कराया जा रहा है। मूल ग्रन्थ के सम्पादन में अन्य किसी सामग्री का उपयोग नहीं हुआ है, तो भी वाराणसी-संस्करण में स्थान-स्थान पर कुछ आवश्यक संशोधन अवश्य किये गये हैं और उनको कोष्ठक में प्रदर्शित कर दिया गया है।

वाराणसी-संस्करण में संस्कृत विश्वविद्यालय के अनुसन्धान संस्थान के तत्कालीन निदेशक प्रो. बदरीनाथ शुक्ल जी ने अन्य पाँच तन्त्रों के साथ देवीकालोत्तर का भी संस्कृत भाषा में परिचय दिया है। उसे वहीं (आद्यं निवेदनम्, पृ. ३) देखना चाहिये।

ग्रन्थ-परिचय

देवीकालोत्तर अथवा कालोत्तर का नाम २८ सिद्धान्तागमों अथवा उनके २०७ उपागमों की नामावली में उपलब्ध नहीं है। पांडीचेरी के फ्रेंच इंस्टीट्यूट में रामकण्ठ की वृत्ति के साथ सार्धत्रिशतिकालोत्तर का प्रकाशन हुआ है। वहाँ [१]वातुलतन्त्र से इसके उद्धार की सूचना दी गई है। वातुलतन्त्र के उपागमों में कालज्ञान का नाम मिलता है। देवीकालोत्तर में भी दो स्थानों (श्लो. ३ एवं ८४) पर कालज्ञान की चर्चा है, किन्तु वृत्तिकार ने दोनों ही स्थलों पर ग्रन्थपरक अर्थ नहीं किया है। सार्धत्रिशतिकालोत्तर के संपादक प्रो. एन. आर. भट्ट जी ने

---

१. *"वातुलात् तन्त्राद् दध्नो घृतमिवोद्धृतम्" (१.४)।*

कालोत्तर के विभिन्न १३ संस्करणों का परिचय दिया है। वहाँ चतुर्थ ग्रन्थ का नाम देवीकालोत्तर अथवा चतुर्विंशतिसहस्रकालोत्तर दिया गया है। [२]वहाँ इसका परिचय देते समय देवीकालोत्तर के प्रस्तुत संस्करण की भी चर्चा की गई है। उससे स्पष्ट होता है कि हम यहाँ जिस ग्रन्थ को प्रकाशित कर रहे हैं, वह एक बृहद् ग्रन्थ का मात्र ६५ वाँ पटल है। प्रस्तुत ग्रन्थ के [३]अन्तिम श्लोक से भी ग्रन्थ की अपरिसमाप्ति सूचित होती है। कल्पना की जा सकती है कि यह कालज्ञान ही कालोत्तर के नाम से प्रसिद्ध हो गया। कालोत्तर का भी उल्लेख यहाँ [४]अवश्य हुआ है, किन्तु वह भी आगम के रूप में नहीं है।

हम अनेक स्थानों पर कह चुके हैं कि बौद्ध तन्त्र-ग्रन्थ गुह्यसिद्धि[५] में कालोत्तर की चर्चा है। ग्रन्थकार पद्मवज्र का समय सातवीं शताब्दी का पूर्वार्ध माना जाता है। स्पष्ट है कि कालोत्तर का आविर्भाव इससे पहले ही हो चुका था और बौद्ध-ग्रन्थ प्रज्ञापारमिता के समान इसके भी अनेक संस्करण हो चुके थे। इससे इस तन्त्र की प्राचीनता और महत्ता अपने आप स्पष्ट हो जाती है। देवीकालोत्तर का प्रादुर्भाव कब हुआ, इसकी सूचना का निश्चित आधार अभी तक प्राप्त नहीं हुआ है, किन्तु वृत्तिकार[६] ने अपने ग्रन्थ के प्रारंभ में ही किसी दिव्यागम के ज्ञानपाद में परमेश्वर के मुख से उद्भूत देवीकालोत्तर की चर्चा का उल्लेख किया है। यहाँ प्रथम पृष्ठ पर दिव्यागम से संबद्ध टिप्पणी दी गई है। अभी किस दिव्यागम के ज्ञानपाद में परमेश्वर-मुखोद्भूत देवीकालोत्तर की चर्चा है, इसकी जानकारी अपेक्षित है।

कृपा शब्द का अर्थ

प्रस्तुत ग्रन्थ में ८४ श्लोक हैं। जैसा कि ग्रन्थ के प्रारंभ के श्लोकों से सूचित होता है, मुक्ति के साधन के रूप में यहाँ ज्ञान और आचार का निरूपण किया गया है। इनमें ६० श्लोक पर्यन्त ज्ञान का और बाद में ग्रन्थ-समाप्ति

---

२. *संस्कृत उपोद्घात (पृ. ५४-५७) देखिये।*

३. *"किमन्यत् परिपृच्छसि" (श्लो. ८४)।*

४. *"भजेत् कालोत्तरम्" (श्लो. ५)।*

५. *"कालोत्तरादिसंशुद्धम्" (८.१२)।*

६. *"श्रीमत्परमेश्वरमुखोद्भूतं देवीकालोत्तरमित्युक्तं दिव्यागमज्ञानपादे" (पृ. १)।*

पर्यन्त आचार का निरूपण मिलता है। प्रथम श्लोक में **'कृपया'** शब्द आया है। वृत्तिकार ने उसका पर्याय **'घृणया'** दिया है। भगवान् शिव को **घृणानिधि** कहा गया है। दयासागर के अर्थ में यह शब्द प्रयुक्त हुआ है। आजकल इस शब्द का अर्थ बदल गया है, किन्तु [७]अमरकोश में दोनों ही अर्थों में यह शब्द प्रयुक्त है। घृणा शब्द के इस परस्पर-विरोधी अर्थों पर भाषा-वैज्ञानिकों को विचार करना चाहिये।

विविध मतवाद

भगवद्गीता (९.२२-२५) में मनुष्य की भावना के अनुसार गति-प्राप्ति की चर्चा की गई है। उसी तरह की चर्चा यहाँ के २१वें श्लोक में भी है। वृत्तिकार ने इस विषय को यहाँ विस्तार से बताया है कि किस शास्त्र के अनुयायी को किस लोक की प्राप्ति होती है। कौल, चार्वाक, ज्योतिष, पूर्वमीमांसा, स्मार्त, इन्द्रियचैतन्यवादी, मनश्चैतन्यवादी, अहंकारचैतन्यवादी, प्राणचैतन्यवादी, बौद्ध, नैयायिक, वैशेषिक, आर्हत, सत्त्वसंभोगवादी, पांचरात्रिक, अद्वैतवादी, सांख्य, पातंजल योग, पौराणिक, कापालिक, [८]पाशुपत, [९]उत्पत्तिसाम्यवादी, आवेशसाम्यवादी, महाव्रत, शिवप्रयोज्यकर्तृत्ववादी, शिवकर्तृत्ववादी, शाक्त, गारुड़, भैरव, वाम और भूत तन्त्रों के उपासकों को प्राप्त होने वाली गतियों का उल्लेख यहाँ (पृ. २०-२२) किया गया है। इनमें से कुछ शास्त्रों की चर्चा शैवपरिभाषा (पृ. १५३-१५७) तथा स्वच्छन्दतन्त्र (१०,६७५-६८१; ११.६९-७४) में भी मिलती है।

ऊपर उद्धृत कुछ मतों के अतिरिक्त स्वच्छन्दतन्त्र में स्वभाववादी, कर्मप्रवादी, संशयवादी, भूतवादी, तर्कप्रवादी, हेतुदृष्टान्तवादी, एकजन्मवादी मतों की भी चर्चा कर इस तरह के ३६३ मतवादों का उल्लेख किया गया है।

---

७. "जुगुप्साकरुणे घृणे" (३.३.५१) इस वचन से स्पष्ट होता है कि अमरकोश की रचना के काल में भी इन दोनों अर्थों में यह शब्द प्रयुक्त होने लगा था।

८. लाकुल, मौसुल, कारुक और वैमल नामक चतुर्विध पाशुपतों का परिचय स्वच्छन्दोद्योत, तन्त्रालोक आदि के प्रमाण से लुप्ता. उपो. (पृ. ११६) में दिया गया है।

९. साधक को शिवसाम्य की प्राप्ति कैसे होती है? इस विषय में शैवशास्त्रों में उत्पत्ति, संक्रान्ति, समावेश और अभिव्यक्ति नामक चार पक्षों का निरूपण किया गया है। यहीं आगे इस विषय को चतुर्विध शैवों का परिचय देते समय स्पष्ट किया गया है।

इन ३६३ मतवादों का परिगणन [१०]जैन-ग्रन्थों में भी मिलता है। सत्त्वसंभोगवादियों और चतुर्विध शैवों की चर्चा ग्रन्थ-भाग की २५-२८ संख्या की टिप्पणियों में की गई है। प्रस्तुत ग्रन्थ में कापालिक, पाशुपत, उत्पत्तिसाम्यवादी, आवेशवादी और महाव्रतों की चर्चा आई है। शैव मत के चार विभागों की प्रायः सर्वत्र चर्चा मिलती है। शैवपरिभाषा (पृ. १५६-१५७) के अनुसार कापालिक आवेशवादी, पाशुपत संक्रान्तिवादी, कालामुख उत्पत्तिवादी और सिद्धान्तशैव अभिव्यक्तिवादी हैं, अर्थात् इन चार मतों के अनुसार शिवसाम्य चतुर्विध है। प्रस्तुत ग्रन्थ में कापालिक और आवेशवादी का अलग-अलग उल्लेख है तथा महाव्रत को इन चारों से भिन्न माना गया है, जब कि वामनपुराण के अनुसार कापालिक ही महाव्रती है। इस विषय की चर्चा हमने एक-दो स्थानों पर की है, किन्तु अभी तक हम किसी निष्कर्ष तक नहीं पहुँच पाये हैं।

मूल ग्रन्थ (पृ. २०) में प्रमाणचैतन्यवादी पाठ था। उसकी असंबद्धता को देखते हुए हमने यहाँ प्राणचैतन्यवादी पाठ रखा है। शिवप्रयोज्यकर्तृत्ववादी के मत में शिवप्रेरित अनन्त अशुद्ध सृष्टि के कर्ता हैं और शिवकर्तृत्ववादी का अभिप्राय शिव के द्वारा की गई शुद्ध सृष्टि से हो सकता है। शैवागमों में शुद्ध और अशुद्ध नाम की द्विविध अथवा शुद्ध, शुद्धाशुद्ध और अशुद्ध नाम की त्रिविध सृष्टियों का वर्णन मिलता है। भगवान् शिव महामाया की सहायता से शुद्ध सृष्टि का और शिवप्रेरित अनन्त माया की सहायता से अशुद्ध सृष्टि का निर्माण करते हैं, यह एक पक्ष है। दूसरे पक्ष में अनन्त शुद्धाशुद्ध सृष्टि के तथा श्रीकण्ठ प्रकृति की सहायता से अशुद्ध सृष्टि के निर्माता हैं।

यहाँ कौल मत को सबसे अवर स्थान दिया गया है। सर्वात्मशंभु की सिद्धान्तप्रकाशिका में अतिमार्ग विभाग के अन्तर्गत पाशुपत, महाव्रत और कापालिक का तथा कौल और यामल तन्त्रों का परिगणन किया गया है। कौल-यामल आदि तन्त्रों की रचना मत्स्येन्द्रनाथ आदि सिद्धों (मानवों) के द्वारा की गई, ऐसा वहाँ (पृ. ३६) उल्लेख मिलता है। वहाँ (पृ. ३५-३६) के शास्त्र-तारतम्य[११]

१०. तन्त्रयात्रा (पृ. १२) में उद्धृत षड्दर्शनसमुच्चय के टीकाकार गुणरत्न के द्वारा उद्धृत गाथा को देखिये। प्राकृत गाथा की संस्कृत छाया इस प्रकार है—"अशीत्यधिकं शतं क्रियावादिनामक्रियावादिनां भवति चतुरशीतिः। अज्ञानिनां सप्तषष्टिर्वैनयिकानां द्वात्रिंशत्।।" जैन आगम-ग्रन्थ सूत्रकृतांग की यह गाथा है।

११. लुप्ता. उपो. (पृ. ११३-११६) में इन विषयों पर विस्तार से चर्चा की गई है।

प्रकरण में भी किस मत के अनुयायी को किस लोक की प्राप्ति होती है, इसकी चर्चा की गई है। शाक्त तन्त्रों का भी वहाँ उल्लेख हुआ है, किन्तु वहाँ का क्रम बहुत कुछ भिन्न प्रकार का है।

चित्त-निरोध

प्रस्तुत ग्रन्थ में चित्त की चंचलता को ही संसार का और उसकी निश्चलता को मोक्ष का कारण माना गया है। मन की चंचलता को बाँधने के लिये यहाँ प्राण आदि पवनों के निरोध को ही सर्वोत्कृष्ट उपाय बताया गया है। पवन और मन दोनों की चंचलता प्रसिद्ध है। यदि हम योगाभ्यास की सहायता से अपने शरीर में स्थित पंचविध अथवा दशविध प्राण, अपान आदि तथा देवदत्त, धनंजय आदि पवनों का निरोध कर सकें, तो उसी की सहायता से चित्त का निरोध करने में भी समर्थ हो सकते हैं। मन के निश्चल हो जाने पर वैखरी आदि चतुर्विध वाणियों के व्यापार का भी अपने आप निरोध हो जाता है, अर्थात् मन अपनी उन्मनावस्था में प्रविष्ट हो जाता है। पाणिनीय शिक्षा के प्रमाण से हम जानते हैं कि इन वाणियों की प्रवृत्ति भी पवन की प्रेरणा से ही होती है। भट्ट कल्लट का कहना है—"प्राक् संवित् प्राणे परिणता"। इस प्राण से ही मन, बुद्धि, अहंकार आदि संचालित होते हैं। इसीलिये प्रस्तुत ग्रन्थ में प्राणशक्ति के निरोध को वरीयता दी गई है। इसीके कारण शुद्ध संवित् का प्राकट्य होता है और साधक निर्विकल्पक स्थिति में पहुँच जाता है, सांसारिक विकल्पों की निवृत्ति हो जाने से समस्त जगत् उसको शुद्ध संवित् के रूप में भासित होने लगता है, उसकी दृष्टि में सर्वत्र शिवभाव प्रकाशित हो उठता है। "केवलं ज्ञानमित्युक्तं वेदितव्यं न किञ्चन" (श्लो. १८) इस श्लोक में इसी स्थिति का वर्णन किया गया है। यहाँ का पूरा प्रकरण (३५-४२ श्लोक) भी इसी विषय से संबद्ध है। निराश्रय, निर्विकल्पक स्थिति को ही यहाँ मुक्ति का लक्षण माना गया है।

मन की विविध स्थितियाँ

मन की मोहिका, मूर्च्छिका, माया, स्वप्न, सुषुप्ति, जाग्रत् आदि स्थितियों का ३१वें श्लोक में तथा निद्रा, स्मरण आदि का ३३वें श्लोक में वर्णन है। इन सबको यहाँ त्याज्य माना गया है। वृत्तिकार ने ३४वें श्लोक में निश्वासकारिका के आधार पर मन की उच्चावच चार स्थितियाँ बताई हैं। लुप्तागमसंग्रह के प्रथम

भाग (पृ. ७१-७२) में इस प्रकरण को देखा जा सकता है। तदनुसार **विक्षिप्त** चित्त की गति सदा बाहर ही रहती है। **गतागत** स्थिति में मन बाहर-भीतर डोलता रहता है। **संश्लिष्ट** स्थिति में वह शुद्ध विकल्प से जुड़ने लगता है और **स्वलीन** अवस्था में उन्मनी दशा में पहुँचा हुआ मन निर्विकल्पक स्थिति में लीन हो जाता है। यहाँ समस्त ग्रन्थ में यही बताया गया है कि जीवन्मुक्त अवस्था की प्राप्ति के लिये साधक को इसी निर्विकल्पक स्थिति में स्थिर रहने का प्रयास करना चाहिये। जैन योगशास्त्र और तन्त्रशास्त्र के आधुनिक ग्रन्थों में आचार्य हेमचन्द्र के योगशास्त्र के प्रमाण से ऊपर वर्णित मन की चतुर्विध स्थितियों का विवरण देते हुए बताया गया है कि स्वानुभव के आधार पर हेमचन्द्र ने मन की जिन चार स्थितियों का वर्णन किया है, उनके नाम ये हैं—विक्षिप्त, यातायात, श्लिष्ट और सुलीन। इस तरह के अध्ययन से हमें सावधान रहना चाहिये। दसवीं शताब्दी के बाद लिखित संस्कृत ग्रन्थों तथा विभिन्न भारतीय भाषाओं में विकसित सन्त-साहित्य की पृष्ठभूमि में आगम-तन्त्रशास्त्र की स्थिति को आँख-ओझल कर देने से ही इस प्रकार की भ्रमपूर्ण स्थिति में पहुँचाने वाले अनुशीलन की भरमार हो गई है।

ध्यान-धारणा की अनावश्यकता

यहाँ के ३४वें श्लोक के ही "न किञ्चिच्चिन्तयेत्" इस वचन की तुलना मालिनीविजय के इस वचन से की जा सकती है—

अकिञ्चिच्चिन्तकस्यैव गुरुणा प्रतिबोधतः ।
उत्पद्यते य आवेशः शाम्भवोऽसावुदाहृतः ।। (२.२-३)

यहाँ शांभव समावेश का वर्णन किया गया है, जिसमें साधक विकल्प-जाल से ऊपर उठकर शुद्ध निर्विकल्पक स्थिति में पहुँच जाता है। तन्त्रालोक के तृतीय आह्निक में शांभव उपाय का विस्तार से वर्णन मिलता है। वहाँ उसे [१२]"ध्यानधारणवर्जितम्" कहा गया है। वृत्तिकार ने (श्लो. ११) भी नाद-बिन्दु-कलातीत शिव पद को ध्यान और धारणा से वर्जित माना है। वृत्तिकार का यह वचन मूल ग्रन्थ के १६-१७ संख्या के श्लोकों के अनुरूप है। १६वें श्लोक की वृत्ति में भेरी, मृदंग आदि के सदृश अनेकविध नादों की चर्चा है। इस पर

---

१२. यह वचन तन्त्रालोक के तृतीय एवं चतुर्थ आह्निक में अनेक स्थलों पर उद्धृत है। शाक्तोपाय के प्रसंग में तो प्राणायाम आदि सभी योगांगों की अनुपयोगिता बताई गई है (४.८७-९५)।

हम मूल ग्रन्थ (पृ. १५) में टिप्पणी कर चुके हैं। तन्त्रालोक के चतुर्थ एवं पंचम आह्निक में इन विषयों का विस्तार से वर्णन मिलता है।

सादाख्य तत्त्व

सिद्धान्त शैवागम के ग्रन्थों में मन्त्र, मन्त्रेश्वर और मन्त्रमहेश्वर शब्दों से क्रमशः विद्या, ईश्वर और सदाशिव तत्त्वों का ग्रहण किया जाता है। वृत्तिकार ने १२वें श्लोक की व्याख्या में इन तीन शब्दों के अतिरिक्त सदाशिव का अलग से परिगणन किया है। ४३वें श्लोक की वृत्ति में विभिन्न देवताओं का परिगणन करते समय सर्वप्रथम सदाशिव गृहीत हैं। ब्राह्मण-वसिष्ठ न्याय के अनुसार इससे मन्त्रमहेश्वर, अर्थात् सदाशिव की विशेष स्थिति का बोध होता है। वातुलशुद्धाख्यतन्त्र (७.४-५) में सादाख्य (सदाशिव) तत्त्व का षड्विध ब्रह्म के रूप में वर्णन मिलता है। सिद्धान्तसारावलि (पृ. ९-११,३०) में इसकी स्पष्ट व्याख्या मिलती है। मतंगपारमेश्वर के विद्यापाद के ३-४ पटलों में भगवान् शिव की लय, भोग और अधिकार दशाओं का वर्णन किया गया है। इनकी शिव, शक्ति और सदाशिव तत्त्वों के रूप में पहचान की जाती है। तदनुसार सदाशिव अधिकार दशा से सम्पन्न है। इसी तरह से शिव की शक्त, उद्युक्त और प्रवृत्त नामक त्रिविध स्थितियों का भी उल्लेख वृत्तिकार ने किया है। शिव और जीव की इस तरह की त्रिविध स्थितियों का परिचय हमने लुप्ता. के उपोद्घात (पृ. १३०-१३५) में दिया है। यहाँ उनका अनावश्यक विस्तार नहीं किया जा रहा है। शिव की अड़तीस कलाओं का परिचय भी सिद्धान्तसारावलि के कला-न्यास प्रकरण (पृ. ११७-१२०) में विस्तार से देखा जा सकता है।

पंचकृत्यकारिता

शिव के पंचकृत्यों का विवरण तो प्रायः सभी शैवागम ग्रन्थों में मिलता है। १८वें श्लोक की पातनिका में वृत्तिकार पंचकृत्य की एक विशेष स्थिति की ओर इंगित करते हैं कि मुक्त के प्रति भगवान् शिव पंचकृत्य से उपरत हो जाते हैं—"स्वनिमित्तपञ्चकृत्योपरत" (पृ. १७)। पृ. ८ की टिप्पणी में हमने इस विषय को अवधूतसिद्ध के वचन के सहारे स्पष्ट करने का प्रयत्न किया है।

गणदेवता

अमरकोश में—"आदित्यविश्ववसवस्तुषिताभास्वरानिलाः। महाराजिकसाध्याश्च रुद्राश्च गणदेवताः।।" (१.१.१०) यहाँ गणदेवताओं का तथा—"विद्याधराऽप्सरो-

यज्ञरक्षोगन्धर्वकिन्नराः। पिशाचो गुह्यकः सिद्धो भूतोऽमी देवयोनयः।।'' (१.१.११) इस श्लोक में विभिन्न देवयोनियों का वर्णन किया है। यहाँ के ५६वें श्लोक में गन्धर्व आदि देवयोनियों का वर्णन किया गया है, गणदेवताओं का नहीं।

जीवन्मुक्त

यद्यपि इस आगम का पूरा विनियोग ज्ञान के द्वारा जीवन्मुक्त स्थिति को प्राप्त कराने में ही है, तथापि मुक्ति का स्पष्ट लक्षण ४४वें श्लोक में बताया गया है। आगे (श्लो. ४५-६०) भी यहाँ जीवन्मुक्त की अनुभूतियों का विशद वर्णन मिलता है। भगवद्गीता की पद्धति से भी यहाँ (श्लो. ७३-८४) जीवन्मुक्त की चर्या का निरूपण मिलता है। वहाँ द्वितीय अध्याय के अन्त में स्थितप्रज्ञ के रूप में इसी स्थिति का वर्णन किया गया है। ५१वें श्लोक में जीवन्मुक्त का अशरीर विशेषण दिया गया है। नञ् के चतुर्विध अर्थ शास्त्रों में वर्णित हैं। अभिनवगुप्त ने तन्त्रालोक के द्वितीय आह्निक में अनुपाय प्रक्रिया का विवरण देते समय नञ् के पर्युदास पक्ष को स्वीकार कर 'अनुदरा कन्या' का उदाहरण दिया है। तदनुसार 'अशरीर' का अर्थ जीवन्मुक्त की इस भौतिक देह के प्रति अनासक्ति होगा। जीवन्मुक्त का लक्षण बताने वाला श्लोक यहाँ इस प्रकार है—

आश्रयो द्वन्द्वमित्युक्तं द्वन्द्वत्यागात् परोदयः ।
जीवन्मुक्तस्तदा योगी देहत्यागाद् विमुच्यते ।। (श्लो. ४४)

अभिनवगुप्त ने तन्त्रालोक (१.३२-५०) में द्विविध ज्ञान और अज्ञान का स्वरूप बताया है और उसके टीकाकार जयरथ ने अन्य ग्रन्थों के प्रमाण से इसको स्पष्ट किया है। जीवन्मुक्त स्थिति में बौद्ध अज्ञान की तो निवृत्ति हो जाती है, किन्तु पौंस्न अज्ञान बना रहता है। इसकी निवृत्ति शरीरपात के बाद ही होती है। इसी स्थिति को ऊपर उद्धृत श्लोक में भी बताया गया है।

७५वें श्लोक की पातनिका में ''न हृष्यत्युपकारेण'' (पृ. ६७) इत्यादि श्लोक उद्धृत है। इस श्लोक को श्रीकण्ठ-विरचित रत्नत्रय की टीका में अघोर-शिवाचार्य ने भी उद्धृत किया है (अष्ट., पृ. २००)। यहाँ स्पष्ट किया गया है कि जीवन्मुक्त दशा में योगी पुण्य-पाप से अस्पृष्ट रहता है। प्रस्तुत ग्रन्थ में इसका कारण भी स्पष्ट किया गया है—''स्तुतिनिन्दाकरास्तस्य पुण्यपापे समाप्नुयुः'' (श्लो. ८४)। इस अभिप्राय के वचन उपनिषदों और आगम-तन्त्रशास्त्र के ग्रन्थों में भी मिलते हैं।

लोक-व्यवहार

चर्या प्रकरण के प्रारंभ के कुछ श्लोक सामाजिक व्यवस्था के विपरीत से प्रतीत होते हैं। इनकी समीक्षा अन्य तन्त्र-ग्रन्थों की पृष्ठभूमि में की जाय, यह उचित प्रतीत होता है। मालिनीविजयतन्त्र (१८.७४-७७) में भी इस तरह का प्रसंग आया है, किन्तु वहाँ—"नास्मिन् विधीयते किञ्चिन्न चापि प्रतिषिद्ध्यते" (१८.७७-८१) इत्यादि वचनों में यह स्पष्ट किया गया है कि मन की स्थिरता के लिये योगी को अपनी सहज प्रवृत्ति के आधार पर निजी चर्या बनानी चाहिये।

"समयाचारनिःशेषान्" (श्लो. ६५) इत्यादि श्लोक की वृत्ति (पृ. ६०) में अष्टविध आचारों के निषेध के प्रसंग में पाँच पंक्तियाँ उद्धृत हैं। ये पंक्तियाँ इसी आनुपूर्वी से थोड़े-बहुत पाठभेद के साथ पारमेश्वरागम में दो स्थलों पर (१२.२६-२८;१७.८४-८६) मिलती हैं। वहीं यह भी बताया गया है कि ये आठ चिह्न जिस-किसी मनुष्य में रहते हैं, चाहे वह भले ही म्लेच्छ हो, श्रेष्ठ शिवभक्त, यति, पवित्र, पंडित और श्रीसम्पन्न हो जाता है—

एतदष्टगुणं चिह्नं यस्मिन् म्लेच्छेऽपि दृश्यते।
स शिवेन्द्रो यतिः श्रीमान् स शुचिः स च पण्डितः ।।

स्पष्ट है कि शास्त्रों में व्यक्ति की मानसिक स्थिति के अनुसार इस तरह के विधि-विधानों का उपदेश किया गया है। इस प्रसंग में हमें गीता के इस वचन को सदा याद रखना होगा—

यद्यदाचरति श्रेष्ठस्तत्तदेवेतरो जनः।
स यत्प्रमाणं कुरुते लोकस्तदनुवर्तते ।। (३.२१)

अजातवाद

श्लो. ५८ की वृत्ति में प्रपंच को अजातनिर्मित कहा गया है। आचार्य गौडपाद की माण्डूक्यकारिका के चतुर्थ अलातशान्ति प्रकरण (४.४-२२) में सत्कार्यवाद और असत्कार्यवाद से विलक्षण अजातवाद का निरूपण किया गया है।

भूतं न जायते किञ्चिदभूतं नैव जायते।
विवदन्तोऽद्वया ह्येवमजातिं ख्यापयन्ति ते ।। (४.४)

इस प्रकार अजातवाद पक्ष को उपस्थापित कर इस प्रकरण का उपसंहार वहाँ इस प्रकार किया गया है—

स्वतो वा परतो वापि न किञ्चिद्वस्तु जायते ।
सदसत्सदसद्वापि न किञ्चिद्वस्तु जायते ।। (४.२२)

चिति

३२वें श्लोक में और उसकी वृत्ति में चिति को देह, प्राण, चित्त, बुद्धि, अहंकार—इन सबसे भिन्न बताया गया है। चित्त शब्द से यहाँ मन परिगृहीत है। ३४वें श्लोक में तथा अन्यत्र भी इस ग्रन्थ में चित्त शब्द से मन का ही ग्रहण किया गया है। पृ. ३४ की टिप्पणी में हमने प्रत्यभिज्ञाहृदय को उद्धृत कर बताया है कि चिति शक्ति ही अपने चेतन पद से नीचे उतर कर, अपने स्वरूप का संकोच कर चित्त (मन) का आकार ग्रहण कर लेती है। यहाँ भी ४६ वें श्लोक में बताया गया है कि अहंकार का परित्याग कर देने पर यह चिति शक्ति ही मोक्ष को प्राप्त करा देती है। यह चिति शक्ति ही ४७वें श्लोक में चिद्रूप शिव के स्वरूप में प्रदर्शित है। ऊपर प्रदर्शित प्राण आदि के क्रम में अहंकार का अन्तिम स्थान है। क्रमदर्शन के ग्रन्थ महार्थमंजरी (पृ. ६०-६१) में भी यही क्रम दिया गया है। विज्ञानभैरव की टीका (पृ. १००) में अद्वयसम्पत्तिवार्तिककार वामननाथ के प्रमाण से बुद्धिरूपी भूमि के ऊपर अहंकारमयी भूमि का विस्तार से परिचय दिया गया है। यह अहंकार शब्द परिमित अहन्ता का बोधक है। इस अहन्ता का परित्याग कर देने पर चिति शक्ति विश्वाहन्ता[१३] में परिणत हो जाती है, मोक्ष के रूप में साधक में शिवभाव की अभिव्यक्ति हो उठती है। ज्ञान और आचार के माध्यम से इस परम स्थिति का बोध कराना ही प्रस्तुत ग्रन्थ का फलितार्थ है।

मार्गशीर्ष पूर्णिमा, संवत् २०५६ — विद्वद्वशंवद
(२२-१२-१९९९) — **व्रजवल्लभ द्विवेदी**
शैवभारती शोध प्रतिष्ठान, वाराणसी। — निदेशक



१३. "आगम और तन्त्रशास्त्र" नामक ग्रन्थ में प्रकाशित "तान्त्रिक योग की चरमोपलब्धि: विश्वाहन्ता" (पृ. ५५-५९) शीर्षक निबन्ध देखिये।

विषयानुक्रमणी



देवीकालोत्तरागमः

संस्कृतवृत्ति-भाषाभाष्यसहितः

श्रीमत्परमेश्वरमुखोद्भूतं देवीकालोत्तरमित्युक्तं दिव्यागमज्ञानपादे। पार्वती मुमुक्षु-जनानुग्रहार्थं कृपाशब्दसूचितान्तरङ्गकृतपरमेश्वरनमस्कारवती परमुक्तिसाधनज्ञानाचार-स्वरूपप्रकटनार्थं परमेश्वरं पृच्छति—

पार्वती उवाच

सर्वेषामपि मुक्त्यर्थं मुक्तिमार्गस्य दर्शनम्।
देवेश ज्ञानमाचारं कृपया कथयस्व मे।।१।।

हे देवेश देवानां ब्रह्मविष्ण्वादीनां ईश, प्रेरकत्वेन प्रवर्तक इत्यर्थः, ईशः प्रवर्तक इति श्रुतेः। सर्वेषामपि तीव्रतीव्रतरादिशक्तिपातागतपवित्रान्तःकरणभूतसमस्तानां मुक्त्यर्थं मलमायाकर्मबैन्दवतिरोधानाभिधानपञ्चविधपाशविनिश्शैषार्थमित्यर्थः। मुक्ति-मार्गस्य पशुत्वभावनिवृत्त्यविनाभूतपतित्वप्राप्तिसाधनभूतमोक्षमार्गस्य दर्शनं प्रकाशकभूतं ज्ञानमाचारं च कृपया मे घृणया मम कथयस्व वद।।१।।

[१]दिव्यागम के ज्ञानपाद में श्रीसम्पन्न परमेश्वर भगवान् शिव के मुख से देवीकालोत्तर नामक आगम उद्भूत हुआ, इसकी चर्चा है। भगवती पार्वती मुमुक्षु-जनों पर अनुग्रह करने की दृष्टि से भगवान् शिव को मानसिक नमस्कार करती हैं, जिसकी सूचना हमें श्लोक में विद्यमान कृपया शब्द से मिलती है। वे परमुक्ति के साधन ज्ञान और आचार के स्वरूप को बताने के लिये भगवान् से प्रश्न करती हैं—

---

१. *दिव्यागम शब्द का प्रयोग वृत्तिकार ने ५२वें श्लोक की वृत्ति में भी किया है। यह स्पष्ट नहीं हो पाता कि वृत्तिकार ने दिव्यागम शब्द से किस आगम का ग्रहण किया है। यहाँ इतना ही कहा गया है कि दिव्यागम के ज्ञानपाद में पारमेश्वर-मुखोद्भूत देवीकालोत्तर की चर्चा है। सामान्यतः सिद्धान्तशास्त्र के २८ आगमों को हम दिव्यागम कह सकते हैं। ५२ वें श्लोक की वृत्ति में प्रयुक्त 'दिव्यागमेषु' यह पद इस ओर इंगित करता है। सिद्धान्तागमों के षड्विध अथवा पंचविध संबन्धों में दिव्य संबन्ध की भी चर्चा है। सिद्धान्तसारावलि (पृ. २७९-२८१) में इनका परिचय दिया गया है। इस विषय में अभी विशेष कुछ कहा नहीं जा सकता।*

पार्वती उवाच

हे देवेश ! सभी प्राणियों को मुक्ति मिल सके, इसके लिये आप मुझे मुक्ति के मार्ग को दिखाने वाले ज्ञान और आचार के स्वरूप को कृपा कर बताइये।।१।।

हे देवेश ! ब्रह्मा, विष्णु आदि देवताओं के स्वामी ! आप इनको अपने-अपने कार्य में लगे रहने के लिये प्रवृत्त करते है। ''ईश: प्रवर्तक:'' ऐसा [२]श्रुतिवचन भी मिलता है। अत: आप सभी प्राणियों की, अर्थात् [३]तीव्र-तीव्रतर शक्तिपात से सम्पन्न होने से जिनके अन्त:करण पवित्र हो गये हैं, ऐसे समस्त प्राणियों की मुक्ति के लिये, अर्थात् [४]मल, माया, कर्म, बैन्दव एवं तिरोधान शक्ति नामक पाँच पाशों के स्वरूप का यथार्थ ज्ञान कराने के लिये मुक्ति-मार्ग के, अर्थात् पशुत्वभाव की निवृत्ति के साथ अविनाभाव से जुड़े हुए पतित्वभाव की प्राप्ति के साधन मोक्षमार्ग के प्रकाशक ज्ञान और आचार का स्वरूप कृपा कर मुझे बताइये।।१।।

पार्वतीप्रश्नप्रेरितहृदयेन परमेश्वरेण तां पार्वतीं प्रति ज्ञानाचारप्रबोधनार्थं प्रतिज्ञा क्रियते—

ईश्वर उवाच

ज्ञानाचारौ वरारोहे कथयामि तवाधुना।
प्रविशन्ति यतो मोक्षं ज्ञानिनो ध्वस्तकल्मषम्।।२।।

वरारोहे देवि, तव ते, अधुना इदानीं ज्ञानाचारौ ज्ञानं च आचारश्च ज्ञानाचारौ तौ ज्ञानाचारौ, कथयामि वक्ष्यामि, यतो यस्मात्, ज्ञानिन: प्रपञ्चवैमुख्य(विमुखा:) ऊर्ध्वमुखीभूता इत्यर्थ:। ते ध्वस्तकल्मषतया (यथा तथा) ध्वस्तं विनाशीकृतम् आत्यन्तिकं विनष्टं कल्मषं मन्त्रशक्तिर्यस्मिन् कर्मणि तद्यथा तथा मोक्षं परसायुज्यम्। प्रविशन्ति प्राप्नुवन्तीत्यर्थ:। तौ ज्ञानाचारौ वक्ष्यामीत्यर्थ:।।२।।

---

२. *तत्त्वप्रकाशवृत्ति (पृ. ७-८) में पौष्करागम और मृगेन्द्रागम को श्रुतिवचन कह कर उद्धृत किया गया है, अत: कहा नहीं जा सकता कि यह वचन वैदिक वाङ्मय से उद्धृत है या आगम वाङ्मय से।*

३. *''नवधा शक्तिपातोऽयं शम्भुनाथेन वर्णित:'' (१३.२५४) तन्त्रालोक के इस वचन में नवविध शक्तिपात की चर्चा की गई है। प्रथमत: तीव्र, मध्य और मन्द के रूप में तीन भेद बताकर पुन: प्रत्येक के तीन-तीन भेद निर्दिष्ट हैं। इन्हीं विभागों की यहाँ चर्चा की गई है। तन्त्रालोक के १३वें आह्निक में शक्तिपात के विविध पक्षों पर विस्तार से विचार किया गया है।*

४. *सिद्धान्त शैवागमों में प्राय: पाँच पाश परिगणित हैं। मृगेन्द्रागम (वि. २.७) में महामाया को हटाकर इनकी संख्या चार ही मानी गई है। तिरोधान शक्ति का भी इनमें समावेश न करने पर यह संख्या तीन ही रह जाती है। प्रत्यभिज्ञा और वीरशैव दर्शन में ये तीन ही पाश मान्य हैं। लुप्ता. उपो. (पृ. १३६-१५१) में इस विषय पर पर्याप्त प्रकाश डाला जा चुका है।*

पार्वती के प्रश्न से अपने हृदय में अनोखी प्रेरणा का अनुभव करते हुए परमेश्वर पार्वती को ज्ञान और आचार का उपदेश देने की प्रतिज्ञा करते हैं—

ईश्वर उवाच

हे वरारोहे ! अभी मैं तुमको ज्ञान और आचार का उपदेश करता हूँ। इनकी सहायता से समस्त कलुषों का नाश हो जाने से ज्ञानी जन मोक्षमार्ग में प्रविष्ट हो जाते हैं।।२।।

हे देवि ! तुमको अब मैं ज्ञान और आचार के स्वरूप को बताऊँगा। इनकी सहायता से ज्ञानी जन इस सांसारिक प्रपंच से विमुख हो ऊर्ध्वमुख हो जाते हैं, अर्थात् वैराग्य-सम्पन्न हो भगवदाराधना में लग जाते हैं। समस्त कलुष-भावों (पापों) का आत्यन्तिक नाश हो जाने के कारण बाद में वे अपनी मन्त्रशक्ति का उपयोग किसी लौकिक या पारलौकिक फल की प्राप्ति के लिये नहीं करते। फलत: कर्मबन्धन से मुक्त हो मोक्षपदवी में, परम सायुज्य में प्रविष्ट हो जाते हैं। मोक्षपदवी की ओर अग्रसर करने वाले इन्हीं ज्ञान और आचार नामक उपायों के यथार्थ स्वरूप को मैं बताऊँगा।।२।।

वक्ष्यमाणयो: प्रतिज्ञातज्ञानाचारयोर्मध्ये प्रथमतोऽज्ञातस्य करणासम्भवादिति न्यायेन आचारात् पूर्वमेवोद्दिष्टस्य ज्ञानस्य स्वरूपं निरूपयितुं प्रारभते—

येषां बोधेन (बोधे न) संजातं कालज्ञानं वरानने।
न तेषां जायते बोध: शास्त्रकोटिशतैरपि ।।३।।

वरानने हे उत्तममुखि! येषां केषां पुरुषाणां बोधे चैतन्ये, कालज्ञानं काले उद्भूतं ज्ञानं कालज्ञानम्, काले चित्तचलनरहिते काले यद् ज्ञानमस्ति तद् ज्ञानं न संजातं बुद्धौ नोत्पद्यते, तेषां कालज्ञानरहितानाम्, शास्त्रकोटिशतैरपि ज्ञानकोटिशास्त्रैरपि बोध: चैतन्यं न जायते नोत्पद्यते, बौद्धार्हत-चार्वाक-नैयायिक-वैशेषिक-भाट्ट-प्राभाकर-सांख्य-पातञ्जलाद्यनेकपशुशास्त्राभ्यासजनिताऽयथार्थाऽवभासज्ञानजनित-वासनया च तत्तत्समयशास्त्रप्रतिपादितानुष्ठानसमुत्पन्नक्रियावासनया च मलिनीभूत-बुद्ध्यध्यवसितेन च बोधोऽपि मलिनीभवतीत्यर्थ:।।३।।

ज्ञान और आचार के स्वरूप को बताने की भगवान् ने प्रतिज्ञा की है। "व्यक्ति बिना जाने कुछ कर नहीं सकता" इस न्याय के अनुसार यहाँ आचार से पहले ज्ञान का उपदेश किया जा रहा है—

हे वरानने ! जिनके बोध में काल का ज्ञान समाविष्ट नहीं होता, उनको करोड़ों शास्त्रों के अध्ययन के उपरान्त भी बोध की प्राप्ति कभी नहीं हो सकती।।३।।

हे सुमुखि ! जिन-किन्हीं पुरुषों के अन्तःकरण में उचित समय पर ज्ञान का स्फुरण नहीं होता, अर्थात् चित्त की चंचलता के मिट जाने पर भी जिसके अन्तःकरण में ज्ञान का आलोक प्रकाशित नहीं होता, ऐसे किसी विशेष क्षण में [५]बिजली के प्रकाश के समान कौंध जाने वाले ज्ञान से रहित पुरुष में करोड़ों शास्त्रों के अध्ययन के उपरान्त भी कभी बोध का स्फुरण नहीं होता। बौद्ध, जैन, चार्वाक, नैयायिक, वैशेषिक, भाट्ट एवं प्राभाकर मीमांसक, सांख्य, योग आदि अनेक पाशव शास्त्रों के अभ्यास से जनित अवास्तविक, मिथ्या प्रतीतियों के कारण पैदा हुई वासनाएँ एवं उन-उन समयशास्त्रों (सच्छास्त्रों) में वर्णित विभिन्न अनुष्ठानों से उत्पन्न विभिन्न क्रिया-कलापों की वासनाएँ ऐसे मनुष्यों की बुद्धि के अध्यवसायों को भी मलिन बना देती हैं, इससे उसका बोध भी मलिन हो जाता है। अभिप्राय यह है कि ऐसे व्यक्ति की बुद्धि सही निर्णय करने में असमर्थ रहती है, अतः उसका [६]बोध कभी निर्मल नहीं होने पाता ।।३।।

सविस्तरं वक्ष्यमाणमोक्षोपायरूपज्ञानसाधकस्वरूपमनुग्राहयति—

अतो हि निर्भयो विद्वान् निःशङ्को विगतस्पृहः ।
ज्ञानोत्साहपरो भूयात् श्रद्दधानो निराकुलः ।।४।।

अतः अस्मात् कारणात्, पशुशास्त्राभ्यासेन ज्ञानोद्बोधाभावकारणादित्यर्थः। हीति प्रसिद्धे। विद्वान् विवेकी साधकः, निर्भयः अन्यशास्त्रानुष्ठानतत्परोद्भावित-विधिनिषेधेषु भयरहितः सन् निःशङ्कः पशुशास्त्रानुष्ठानत्यागे शिवशास्त्रानुष्ठानग्रहणे च संकल्पविकल्परहित इत्यर्थः। विगतस्पृहः विगता स्पृहा यस्यासौ विगतस्पृहः। पराङ्मुखः परापरभोगपराङ्मुख इत्यर्थः। श्रद्दधान आचार्यागमशास्त्रेषु तत्प्रतिपादित-ज्ञानाचारयोर्विश्वासपरः। निराकुल इति तनुकरणभुवनभोगार्थचिन्तारहितः। अनवरतं ज्ञानोत्साहपरः साधनात्मकव्यापारनिष्ठो भूयात् ।।४।।

---

५. *अभिनवगुप्त के द्वारा उद्धृत—"सकृद् विभातोऽयमात्मा" (ई. प्र. वि. वि., भा. ३, पृ. १३) इस श्रुति का यही अभिप्राय है।*

६. *सद्योज्योति शिवाचार्य मोक्षकारिका में कहते हैं—"अन्तःकरणवृत्तिर्या बोधाख्या सा महेश्वरम्। न प्रकाशयितुं शक्ता" (श्लो. १०६)। आगे—"शिवार्कशक्तिदीधित्या" (श्लो. १११) इत्यादि श्लोक में वे विशुद्ध **बोध**शक्ति की भी चर्चा करते हैं, जो शिव के स्वरूप के साक्षात्कार में समर्थ होती है। यह विषय बृहन्नारदीय पुराण (१.६३.११२ एवं १.६३.११०) में उक्त दोनों श्लोकों के माध्यम से विवृत है। बोध के समान खेटपाल (सद्योज्यति शिवाचार्य) प्रदर्शित **शब्द** की भी शिवात्मकता और पाशात्मकता का विवेचन शिवदृष्टिकार सोमानन्द ने स्वायम्भुवटीका, मतंगटीका और किरणागम के प्रमाण से किया है (३.१३-१६)।*

इस प्रकार भगवती को सावधानी से सुनने का आग्रह कर अब भगवान् विस्तार से यह बताने जा रहे हैं कि मोक्ष के उपायभूत इस ज्ञान को किस तरह का साधक प्राप्त कर सकता है—

अत: यह आवश्यक है कि इस ज्ञान की प्राप्ति की योग्यता अर्जित करने के लिये विद्वान् साधक निर्भय और नि:शंक हो सभी अभिलाषाओं से रहित, उत्साह-सम्पन्न, श्रद्धालु एवं निराकुल हो जाय।।४।।

पाशव शास्त्र के अभ्यास के कारण मनुष्य में सही ज्ञान का स्फुरण नहीं होने पाता, यह बात प्रसिद्ध ही है। अत: विद्वान् विवेकी साधक को चाहिये कि वह अन्य शास्त्रों में वर्णित अनुष्ठान के प्रति प्रेरित करने वाले विधि-निषेध वाक्यों से बिना डरे, पाशव शास्त्र के अनुष्ठानों के त्याग और शिवशास्त्र के अनुष्ठानों के ग्रहण में नि:शंक होकर, सभी प्रकार के संकल्प-विकल्प से मुक्त होकर, सभी प्रकार की इच्छाओं का परित्याग कर, अर्थात् ऐहिक एवं पारलौकिक भोगों का परित्याग कर, आचार्य एवं आगमशास्त्रों में एवं उनमें प्रतिपादित ज्ञान और आचार में पूरा विश्वास रखता हुआ, [७]तनु-करण-भुवन-भोगार्थ की चिन्ता से रहित होकर निरन्तर ज्ञान और उत्साह से सम्पन्न हो अपने साधनात्मक व्यापार में पूरी सावधानी से लग जाय।।४।।

पश्चादपि तदधिकारिण: स्वरूपं निरूपयति—

निर्मम: करुणोपेत: सर्वभूताभयप्रद: ।
भजेत् कालोत्तरं देवि मुमुक्षुर्योगतत्पर: ।।५।।

हे देवि, निर्मम: भोग्यरूपाद्यनेकवस्तुनि प्रतिगर्व इत्युक्तग्राहकाध्यवसायरूप-भूतममतारहित इत्यर्थ:। करुणोपेत: दु:खितात्मनां कृपया युक्त:। सर्वभूताभयप्रद: भयं नास्तीत्यभयम्, भयशब्देन अध्यात्माधिभूताधिदैविकानि दु:खत्रयाण्युच्यन्ते, तानि दु:खान्यस्य महात्मनो दर्शनस्पर्शनेन नश्यन्ति, अत: कारणादभयप्रद इत्यर्थ:। योगतत्पर: योगप्रवृत्तो युक्तशक्त्या(क्ता)त्मकव्यापारोपरतानवच्छिन्नस्व-परप्रकाशकसंविद्वस्तुताद्रूप्यभूतयोगे तत्पर आसक्तभूत:। मुमुक्षु: मोक्षकाङ्क्षक:। कालोत्तरं कालस्य चित्तचलनकालस्य, उत्तरम् उपरिभूतं निर्विकल्पकं भजेत् ।।५।।

---

७. *"तनुदेवभावभुवनैर्भोगे शिव: साधनै:" (१.२२) सिद्धान्तसारावलि के इस वचन में यही विषय चर्चित है। यहाँ* ***तनु*** *शब्द से उस उस भुवन के योग्य शरीर का,* ***देव*** *शब्द से इन्द्रियों (करणों) का,* ***भाव*** *शब्द धर्म आदि आठ भावों (भोगों) का और* ***भुवन*** *शब्द से कालाग्नि आदि भुवनों का ग्रहण किया गया है। इन सबकी सहायता से शिव सृष्टि-व्यापार में प्रवृत्त होता है और साधक इन सबकी चिन्ता से मुक्त होकर योगसाधना में लग जाता है।*

अधिकारी साधक का स्वरूप पुनः बताते हैं—

हे देवि ! उस साधक को निर्मम, करुणा-सम्पन्न, सभी प्राणियों को अभय प्रदान करने वाला तथा सदा योगाभ्यास में तत्पर रहना चाहिये। ऐसा मुमुक्षु साधक कालोत्तर का भजन करे।।५।।

हे देवि ! ऐसे साधक को निर्मम (ममता से रहित) रहना चाहिये। भोग्य रूप में उपस्थित नाना प्रकार की वस्तुओं के प्रति आग्रहशील रहना ही ममता कहलाती है। इस ग्राहक अध्यवसाय से मुक्त हो जाना साधक के लिये आवश्यक है। उसे दुःखी प्राणियों के ऊपर कृपा रखनी चाहिये, उनकी सहायता करनी चाहिये। उसे सभी प्राणियों को अभय प्रदान करना चाहिये। भय शब्द से आध्यात्मिक, आधिभौतिक और आधिदैविक नामक त्रिविध दुःखों का ग्रहण किया जाता है। ये दुःख इस तरह के महात्मा के दर्शन एवं स्पर्शन से दूर हो जाते हैं। इसी कारण इसे अभयप्रद कहा जाता है। यह साधक योग के द्वारा प्राप्त सिद्धियों के प्रदर्शन से विरत होकर बिना किसी बाधा के अपने एवं समस्त संसार के प्रकाशक, शुद्ध संवित्स्वरूप में भासमान, सर्वत्र तादात्म्य की अनुभूति कराने वाले योग में आसक्त हो जाय। केवल मोक्ष की आकांक्षा वाला ऐसा व्यक्ति कालोत्तर की उपासना करे। काल का अर्थ यहाँ चित्त की चंचलता है। इस चित्त की चंचलता से ऊपर निर्विकल्प स्थिति में पहुँचने को ही यहाँ **कालोत्तर** कहा गया है। अभिप्राय यह है कि साधक को सब कुछ छोड़कर निर्विकल्प समाधि में प्रतिष्ठित हो जाना चाहिये।।५।।

एवंभूतमुमुक्षोर्मोक्षोपायं ग्रन्थद्वयेन प्रतिपादयितुं तदुपलभ्यफलानि सविस्तरं वक्ष्यति—

स ब्रह्मा स शिवो विष्णुः स इन्द्रः स षडाननः ।
स गुरुः सर्वदेवाश्च स योगी स तपोधनः ।।६।।
पण्डितः स महाभागः कृतार्थः परमार्थतः ।
चलद्वायुसमं चित्तं ध्रियते येन निश्चलम् ।।७।।

स ग्रन्थद्वयानन्तरवक्ष्यमाणप्रतिपादितमोक्षोपायसाधक एव ब्रह्मा भवति, ज्ञानोपायप्रवृत्त्या पुण्यापुण्यात्मकोभयकर्मनाशतः प्रवृत्तेश्वरशक्तिप्रेरणया प्रेरितब्रह्मसृष्ट्यन्तर्भूतविरहत्वात् स्वयमेव ब्रह्मेत्यभिप्रायः। स शिवः। अत्र शिवशब्देन रुद्रो विवक्षितः, शिवशब्दस्य ब्रह्मविष्णुपदमध्यपठितत्वाद् रुद्रस्यैव ब्रह्मविष्णुभ्यां साहचर्यसत्त्वाच्च स एव शिवो रुद्रो भवति, रुद्रव्यापारस्तनुकरणादिसंहारः शिवशक्त्युत्तेजितात्मज्ञानशक्त्यैव भवतीत्यर्थः। स एव विष्णुः, भोगाकाङ्क्षाविरहित्वादेव विष्णुकार्यरक्षणव्यापाराव्यतिरिक्त इत्यर्थः। स एवेन्द्रः, देवेन्द्रभोगसदृशदुःखरहितदिव्य-

भोगीत्यर्थः। स एव षडाननः षण्मुखसदृशसिद्धान्तज्ञानसिद्ध इत्यर्थः। स एव गुरुराचार्यः, मोक्षोपायसाधनबोधनाभ्यासफलबन्धविमोचक इत्यर्थः। स एव योगी योगीश्वरः। स एव तपोधनः, तप एव धनं द्रव्यं यस्य स तपोधनः। स एव महाभागः। परमार्थतः यथार्थतः, कृतार्थः कृतः प्राप्तोऽर्थो येन सः, परापरमोक्षभागित्यर्थः। मतान्तरसिद्धवन्नाभिमानिकसिद्ध इत्यर्थः। येन केनचित् पुरुषेण चलद्वायुसमं चलनवायुना समस्तापानादिवायुव्यापारमूलभूतप्राणवायुना समं सदृशं चित्तं मनः, निश्चलं चलनरहितं ध्रियते, स एव पूर्वोक्तब्रह्मादिसकलगुणविशिष्ट इत्यर्थः।।६-७।।

इन सब लक्षणों से सम्पन्न मुमुक्ष साधक के लिये आगे के दो श्लोकों में मोक्ष-प्राप्ति के उपाय के साथ उससे प्राप्त होने वाले फल को भी बताते हैं—

मनुष्य का यह चित्त (मन) प्रबल झंझावात के समान चंचल है। इसको जो निश्चल बना लेता है, कभी चंचल नहीं होने देता, इस लोक में वही ब्रह्मा, वही शिव, वही विष्णु, वही इन्द्र, वही षडानन (स्कन्द), वही गुरु, वही योगी, वही तपोधन, वही पण्डित, वही महान् ऐश्वर्य सम्पन्न और वास्तविक रूप में कृतार्थ है। उसके शरीर में सभी देवताओं का निवास है।।६-७।।

यहाँ की चतुर्थ पंक्ति और अगले श्लोकों में बताये गये चित्त की चंचलता के निरोधक एवं मोक्ष-प्राप्ति के उपायों का सहारा लेने वाला साधक स्वयं ही ब्रह्मा बन जाता है। अभिप्राय यह है कि ज्ञान रूपी उपाय का सहारा लेने से ऐसे साधक के पुण्य-पाप रूप उभयविध कर्म नष्ट हो जाते हैं और इस तरह से कर्म के आधार पर प्रवृत्त होने वाली ब्रह्मा की सृष्टि से वह दूर हो जाता है। इस स्थिति में उसके लिये ब्रह्मा की कोई उपयोगिता नहीं रह जाती। वह स्वयं ही ब्रह्मा बन जाता है। वही शिव भी बन जाता है। यहाँ शिव शब्द से रुद्र का ग्रहण किया जाता है। ब्रह्मा और विष्णु के मध्य में पठित होने से और इन दोनों शब्दों के साहचर्य से रुद्र का ही ग्रहण यहाँ आगम को अभिप्रेत है। तनु, करण आदि का संहार करना रुद्र का व्यापार है। शिव की शक्ति से उद्भूत ज्ञानशक्ति के सहारे ही रुद्र यह व्यापार करते हैं, अतः उनको भी यहाँ शिव कह दिया गया है। वही विष्णु भी है, क्योंकि भोग की आकांक्षा से रहित हो जाने से इसके प्रति विष्णु के रक्षण व्यापार की भी कोई उपयोगिता नहीं रह जाती। वही इन्द्र है, क्योंकि वह इन्द्र के समान दुःख से रहित दिव्य आनन्द की स्थिति में पहुँच जाता है। वही षडानन (स्कन्द) है, [८]स्कन्द

---

८. *यहाँ शिवपुत्र षडानन स्कन्द को समस्त सिद्धान्तागमों का ज्ञाता बताया गया है। इतना ही नहीं, काश्मीरागम के प्रसिद्ध ग्रन्थ मालिनीविजयतन्त्र के उपदेष्टा भी तारकासुर का वध करने वाले एवं संसार-सागर में निमग्न जीवों के तारक (उद्धार करने वाले) भगवान् कार्तिकेय (स्कन्द) ही हैं—"जगदर्णवमग्नानां तारकं तारतान्तकम्" (१.२); तथा—कार्तिकेयात् समासाद्य ज्ञानामृतमिदं महत्" (२३.४३)।*

के समान समस्त सिद्धान्तशास्त्रों का ज्ञाता बन जाता है। वही आचार्य है, क्योंकि वह मोक्ष के उपायों और साधनों का बोध कराता है, विविध उपायों के अभ्यास से क्या फल मिलता है, इसको बताता है और जीवों को संसार के बन्धन से मुक्त करता है। वही योगीश्वर है और वही तपोधन है, अर्थात् केवल तप को ही अपना धन मानता है। वही महान् भाग्यशाली है। वास्तव में यहाँ वही कृतार्थ है, अर्थात् पर और अपर मोक्ष को वह इसी जन्म में यहीं प्राप्त कर लेता है। अभिप्राय यह है कि [१]मतान्तर में प्रतिपादित सिद्धों की तरह वह केवल आभिमानिक मुक्ति नहीं पाता, किन्तु वास्तव में मुक्त हो जाता है। जिस किसी पुरुष ने समस्त अपान आदि वायुओं के व्यापारों के मूलकारण प्राण वायु के साथ उसी तरह के चंचल चित्त को भी चलनरहित बना लिया है, वही ऊपर बताये गये ब्रह्मा आदि के समस्त गुणों से सम्पन्न हो जाता है।।६-७।।

पूर्वोक्तश्लोकद्वयेन उपायसाधकस्य विशिष्टतामुक्त्वा तदुपायसाधनविशिष्टता वक्ष्यमाणग्रन्थद्वयेन कथ्यते—

स उपायो विमोक्षस्य सदुपात्तगुणस्तु सः ।
सा प्रज्ञा तदिह स्थैर्यं तत्पुण्यं व्यवसायिनाम् ।।८।।

तदेव तीर्थं दानं च स तपश्च न संशयः ।
येनोपायेन बध्येत वायुभिश्चलनं मनः ।।९।।

स एव विमोक्षस्य विशिष्टनिःश्रेयसस्य उपायः। सः सदुपात्तगुणः सद्भिः स्वीकार्यगुण इत्यर्थः। सा प्रज्ञा सैव त्रिकालार्थनिश्चयबुद्धिः, तत् तदेव, इह अत्र, स्थैर्यं स्थिरत्वम्, तदेव व्यवसायिनां सत्कर्मानुष्ठानवतां पुण्यं तदेव तीर्थं तदेव दानं सत्पात्रप्रतिपादितधनम्, स एव तपः, न च संशयः सन्देहो नास्ति। येन केनचिदुपायेन वायुभिः प्राणादिवायुभिः, चलनं बाह्यविषयग्रहणार्थं बाह्यकरणेषु

---

१. *जैन मत में सिद्धशिला पर असंख्य सिद्धों की अव्याहत स्थिति मानी गई है। संभवतः उसी मत का यहाँ उल्लेख हुआ है। शैव सिद्धान्त के ग्रन्थ तत्त्वप्रकाश में मुक्तात्मा के रूप में सिद्ध का स्वरूप इस प्रकार बताया गया है—*

मुक्तात्मानोऽपि शिवाः किन्त्वेते यत्प्रसादतो मुक्ताः ।
सोऽनादिमुक्त एको विज्ञेयः पञ्चमन्त्रतनुः ।।६।।

यहाँ शिव की अपेक्षा मुक्तात्मा की भिन्नता को मानते हुए भी उनको मुक्त ही माना गया है। शिव और मुक्त के इस स्वरूप को अवधूतसिद्ध ने अधिक स्पष्ट रूप से प्रस्तुत किया है— "परमशिवः सिद्धान् प्रत्युपरताधिकारोऽप्यन्येष्वनुपरताधिकारः। सिद्धः पुनरेकान्तेन सर्वत एवोपरताधिकार इति भेदः" (पृ. २८१)। अवधूतसिद्ध के व्यासाक्षिणी नामक ग्रन्थ का यह वचन परमोक्षनिरासकारिका की रामकण्ठ-कृत वृत्ति में उद्धृत है।

तत्तद्विषयसंस्कारवशादन्तरङ्गचञ्चलभूतं मनः चेतः, बध्येत बद्धुं शक्येत। स एवोपायः पूर्वोक्तगुणविशिष्ट इत्यर्थः।।८-९।।

ऊपर के दो श्लोकों में उपायों के साधक पुरुष की विशिष्टता को बताकर अब आगे के दो श्लोकों में साधन की विशिष्टता को बताते हैं—

चित्त को स्थिर कर लेना ही मोक्ष का मुख्य उपाय है, वही सज्जनों के द्वारा स्वीकृत सभी सद्गुणों का खजाना है, सही प्रज्ञा का उन्मेष उसीसे होता है, उसीमें स्थैर्य का निवास रहता है, सत्कर्मों का अनुष्ठान करने वालों का पुण्य-स्थल वही है, वही तीर्थ, दान और तप की मूर्ति है, इसमें किसी प्रकार का संशय नहीं रहना चाहिये। मोक्ष का वास्तविक उपाय वही कहा जायगा, जिससे प्राण आदि वायुओं के साथ मनुष्य का चंचल मन भी बाँधा जा सके।।८-९।।

विशिष्ट निःश्रेयस की प्राप्ति का वही उपाय है, वही सज्जनों के द्वारा स्वीकार्य गुण है, त्रिकाल के पदार्थों का साक्षात्कार करानेवाली बुद्धि उसीसे प्राप्त होती है, वही वास्तविक स्थिरता है, सत्कर्म का अनुष्ठान करने वालों का पुण्य वही है, तीर्थ भी वही है, सत्पात्र को दिया गया दान वही है और वही वास्तविक तप है, इसमें किसी को भी कोई संशय नहीं रहना चाहिये। जिस किसी भी उपाय से प्राण आदि पवनों की सहायता से, बाह्य विषयों के ग्रहण के लिये बाह्य करणों की सहायता से, अपने-अपने विषयों के संस्कार के कारण जब चित्त भीतर से चंचलता का अनुभव कर रहा हो, उस समय उसकी चंचलता को जिस प्रकार से भी रोका जा सके, वही उपाय ऊपर वर्णित सभी गुणों से सम्पन्न होगा, यही इन श्लोकों का तात्पर्य है।।८-९।।

अस्योपायस्यानङ्गीकाराङ्गीकाराभ्यां बन्धमोक्षहेतुत्वान्मुमुक्षुरात्मा अमुमेवोपायं साधयितुमीष्ट इत्याह—

चित्ते चलति संसारो निश्चले मोक्ष एव तु।
तस्माच्चित्तं स्थिरं कुर्यात् प्रज्ञया परया बुधः।।१०।।

चित्ते मनसि, चलति चञ्चले सति, संसारः सुखदुःखमोहस्वरूपः संसारो भवति। निश्चले मनसि वैखर्यादिचतुर्विधशब्दव्यापारोपरतौ निश्चलीभूते, मोक्ष एव निर्वाणमेव, तस्माद् मनोनिश्चलताऽभावे मोक्षाभावात्, बुधो विवेकी पुरुषः, परया सकललोकव्यवहारानध्यासितत्वाल्लोकोत्तरीभूतया प्रज्ञया त्रिकालविषयबुद्ध्या, चित्तं मनः स्थिरं स्थैर्ययुक्तं कुर्याद् विषयवति शून्यं कुर्यादित्यर्थः।।१०।।

इस उपाय को अस्वीकार करने से बन्ध तथा स्वीकार करने से मोक्ष की प्राप्ति होती है, अतः मोक्ष की इच्छा वाले जीवात्मा को इसी उपाय का आश्रय लेना चाहिये, इसी विषय को अब बताया जा रहा है—

चित्त के चंचल रहने से संसार और स्थिर हो जाने पर मोक्ष की प्राप्ति होती है। अतः बुद्धिमान् व्यक्ति को चाहिये कि वह अपनी श्रेष्ठ मति के सहारे चित्त को स्थिर करने का प्रयत्न करे।।१०।।

मन के चंचल रहते व्यक्ति को इस संसार में सुख, दुःख और मोह के जंजाल में पड़ा रहना पड़ता है। मन के निश्चल हो जाने पर, अर्थात् वैखरी आदि चतुर्विध वाणियों के शब्द-व्यापार से विरत होकर जब वह शान्त हो जाता है, तो उसे अवश्य ही निर्वाण की प्राप्ति होती है। मन के स्थिर हुए बिना मोक्ष हो नहीं सकता, अतः विवेकी पुरुष को चाहिये कि वह समस्त लोक-व्यवहार से दूर अपनी लोकोत्तर, तीनों कालों का साक्षात्कार करने में समर्थ बुद्धि की सहायता से मन को स्थिर करने का प्रयत्न करे, अर्थात् विषयों के प्रति उसके आकर्षण को पूरी तरह से मिटा दे।।१०।।

मनोनैश्चल्योत्तरकालप्रकाशितपरतत्त्वासक्त एव विवेकीत्युच्यते—

ऐकान्तिकं सुखं यत्र तथैवात्यन्तिकं भवेत्।
निष्कर्मणि परे तत्त्वे को न रज्येत पण्डितः।।११।।

यत्र यस्मिन् ऐकान्तिकं विषयसुखसदृशक्षणभङ्गुरस्याभावतः स्थिरभूतं सुखं भवेत्, तथैवात्यन्तिकं स्वसमानभूतस्वविशिष्टरूपसुखाभावत एव लोकोत्तरं भवेत्। एवं प्रकारेण विद्यमाने निष्कर्मणि ध्यानधारणादिकर्मरहिते, परे नादबिन्दुकलाद्यतीते, तत्त्वे शिवपदे, कः को वा पण्डितः, न रज्येत आसक्तो न भवति, आसक्त एवेत्यर्थः।।११।।

मन की स्थिरता के बाद प्रकाशित होने वाले परतत्त्व के प्रति जो आसक्त हो जाता है, वही विवेकी कहलाता है—

चित्त के परतत्त्व के प्रति आसक्त हो जाने पर साधक को ऐकान्तिक और आत्यन्तिक सुख की प्राप्ति हो जाती है। इस परतत्त्व का साक्षात्कार हो जाने पर कुछ भी करना शेष नहीं रहता। इस नैष्कर्म्य स्थिति के प्रति कौन समझदार व्यक्ति अनुरक्त नहीं होगा।।११।।

विषयों के अनुभव से उत्पन्न क्षणिक सुख के सदृश जो क्षणभंगुर नहीं होता, उसको ऐकान्तिक सुख कहते हैं और एक बार अनुभव का विषय हो जाने पर जो बाद में कभी नष्ट नहीं होता, वह आत्यन्तिक सुख है। इस परतत्त्व का साक्षात्कार करने के बाद नैष्कर्म्य

स्थिति में पहुँचे हुए साधक को इन दोनों ही प्रकार के लोकोत्तर सुख की प्राप्ति हो जाती है। इस प्रकार की [10]ध्यान-धारणा आदि क्रियाओं से अतीत और [11]नाद, बिन्दु एवं कला से भी अतीत उस परम शिवपद के प्रति कौन विद्वान् आसक्त नहीं होगा? अर्थात् अवश्य ही ऐसे तत्त्व की प्राप्ति के लिये वह तत्पर हो जायगा।।११।।

निष्कलज्ञानासक्तसाधक एव प्राप्यपरसायुज्यवानिति कथ्यते—

निवृत्तो विषयज्ञानाद् निष्कलज्ञानतत्परः।
अनिच्छन्नपि मेधावी लभते मोक्षमक्षयम्।।१२।।

विषयाणां मन्त्रमन्त्रेश्वरमन्त्रमहेश्वरसदाशिवाद्यनेकविषयाणां ज्ञानात्, निवृत्तः पराङ्मुखः। निष्कलज्ञानतत्परो निष्कलज्ञानभूतशिवस्य ज्ञाने तत्परः अनुरक्तभूतः। मेधावी विवेकी पुरुषः, अनिच्छन्नपि अनाकाङ्क्षमाणोऽपि, आकाङ्क्षाया दुःखहेतुत्वादुपरतमोक्षाकाङ्क्षोऽपि, अक्षयमिति समयान्तराभिमतनिःश्रेयसाश्रितपुनरावृत्त्याद्यनेकदोषरहितत्वाद् विनाशशून्यमित्यर्थः। मोक्षं निर्वाणं लभते प्राप्नुते।।१२।।

अब यह बताया जा रहा है कि इस तरह के निष्कल तत्त्व के प्रति आसक्त साधक को ही परम सायुज्य की प्राप्ति होती है—

विषयों के ज्ञान से निवृत्त होकर जो साधक निष्कल तत्त्व को जानने में लग जाता है, वह बुद्धिमान् व्यक्ति न चाहते हुए भी अक्षय मोक्ष को प्राप्त कर लेता है।।१२।।

प्रस्तुत श्लोक में लौकिक विषयों के अतिरिक्त मन्त्र, मन्त्रेश्वर, मन्त्रमहेश्वर, सदाशिव सदृश शुद्ध सृष्टि के विषयों का भी ग्रहण किया गया है। इन सभी विषयों से जो पराङ्मुख हो गया है और भगवान् शिव के निष्कल स्वरूप को जानने के लिये प्रयत्नशील हो गया है, वह विवेकी बुद्धिमान् पुरुष न चाहते हुए भी कभी नष्ट न होने वाली निर्वाणपदवी में प्रविष्ट हो जाता है। आकांक्षा, किसी पदार्थ को प्राप्त करने की

---

१०. तन्त्रालोक (४.९१-९५) में बताया गया है कि परमपद के साक्षात्कार में प्राणायाम, प्रत्याहार, ध्यान, धारणा आदि योगांगों की भी कोई उपयोगिता नहीं है। इसी को ध्यान में रखते हुए नेत्रतन्त्र (८.९-२१) में अष्टांग योग के लक्षणों में ही परिवर्तन कर दिया गया है। तन्त्रालोक में अनच्क पद को और विष तत्त्व को "ध्यानधारणवर्जितम्" (३.१४७ एवं १६९) कहा है।

११. शैव और शाक्तागम के ग्रन्थों में परमशिव पद को नाद, बिन्दु और कला से अतीत माना गया है, अर्थात् इन सबसे ऊपर उसका स्थान है। रत्नत्रय, नादकारिका इत्यादि में इनका विवरण देखना चाहिये।

इच्छा, अन्ततः दुःख का कारण बनती है, अतः साधक को मोक्ष की आकांक्षा से भी उपरत रहने का उपदेश यहाँ मिलता है। मोक्षपदवी को अक्षय इसलिये कहा गया है कि अन्य मतों में स्वीकृत मोक्ष के समान यह नश्वर नहीं है, पुनरावृत्ति जैसे अनेक दोषों से शून्य परतत्त्व के साक्षात्कार से अधिगत यह मोक्षपदवी शाश्वत रहती है।।१२।।

निष्कलज्ञानस्वरूपकथनार्थं सकलादिस्वरूपाणि निरूप्यन्ते—

अस्मिताकलया युक्तं चैतन्यं सकलं स्मृतम्।
अस्मितारहितं चेतश्चैतन्यं शक्तिरुच्यते ।।१३।।

अस्मिताकलया मायाजन्यकलोद्वलितचैतन्यद्वारा 'सुखवानस्मि, दुःखवानस्मि' इत्यादिग्राहकाध्यवसायरूपभूताऽस्मितेत्युक्तकलया युक्तं लीनं चैतन्यं सकलं स्मृतं सकलमित्युच्यते। अस्मितारहितं या अस्मितायाः कारणभूता कला तस्याः सकाशात् निवृत्तम् अस्मितारहितं चेतः चित्तं चैतन्यं ज्ञानक्रियारूपम्, शक्तिः निष्कलभूतभूतशक्तिरित्युच्यते। स्तनं पिबतीत्यधिष्ठानाधिष्ठेययोरभेदप्रतिपादक-व्यवहारसादृश्येन चेतःशब्दश्चेतोऽधिष्ठितचैतन्यवाचक इत्यभिप्रायः।।१३।।

निष्कल ज्ञान के स्वरूप को जानने के लिये पहले सकल आदि स्वरूपों का जानना जरूरी है, अतः पहले उन्हींको बता रहे हैं—

अस्मिता नाम की कला से युक्त चैतन्य सकल कहलाता है। अस्मिता से रहित चित्तवाला साधक चैतन्य शक्ति के नाम से जाना जाता है।।१३।।

माया तत्त्व से कला तत्त्व की उत्पत्ति होती है। इस कला तत्त्व से घिरा हुआ चैतन्य "मैं सुखी हूँ, मैं दुःखी हूँ" इस तरह से अपने साथ सुख-दुःख आदि को जब जोड़ लेता है, इसी स्थिति का नाम **अस्मिता** है। इस अस्मिता कला में लीन चैतन्य ही **सकल** कहलाता है। जब वह अस्मिता की कारणभूत इस कला के चंगुल से अलग हो जाता है, तो अस्मिता (संकोच) से मुक्त हुआ उसका चैतन्य ज्ञान और क्रिया शक्ति से सम्पन्न होकर शक्ति-स्वरूप बन जाता है, निष्कल स्थिति को प्राप्त कर लेता है। "स्तनं पिबति" इस वाक्य में जैसे अधिष्ठान और अधिष्ठेय में अभेद व्यवहार किया जाता है, उसी तरह से यहाँ चेतस् शब्द चित्त में अधिष्ठित चैतन्य का बोधक है। अभिप्राय यह कि बालक माता का दूध पीता है। यह दूध स्तन में अधिष्ठित है। स्तन अधिष्ठान है, दूध अधिष्ठेय। जैसे यहाँ अधिष्ठान और अधिष्ठेय में अभेद स्थापित कर "स्तनं पिबति" यह व्यवहार प्रचलित है, उसी तरह से चित्त अधिष्ठान है, चैतन्य अधिष्ठेय। इन दोनों में अभेद स्थापित कर साधक के चित्त में स्थित चैतन्य को ही यहाँ शक्ति कहा गया है।।१३।।

अस्मिताकलारहितचिच्छक्तिरेव निष्कलज्ञानशब्दवाच्यमित्युच्यते—

तया प्रकाशितं विश्वं शक्तिध्यानमुदाहृतम् ।
सर्वालम्बविनिर्मुक्तं निष्कलं ज्ञानमुच्यते ।।१४।।

तया तदस्मिताकलया रहितं चिच्छक्त्या प्रकाशितं यथास्थितानन्तवस्तुस्वरूपानतिक्रमेण प्रकाशितं विश्वं पृथिव्यादिशिवतत्त्वान्ततत्त्वतात्त्विकसमूहं शक्तिध्यानं निजशक्तेर्ध्यानं देशकालाद्यनवच्छिन्नमलकर्माद्यनुपहतस्वरूपध्यानमिति उदाहृतं कथितम्। एतत् शक्तिध्यानमेव, सर्वालम्बविनिर्मुक्तं हेयोपादयेव्यतिरिक्तमहदुपेक्षारूपभूतविरतिसम्भवेन विनिर्मुक्तं निष्कलं ज्ञानं सर्वसाक्षिकमात्रपर्यवसितज्ञानमित्युच्यते।।१४।।

अस्मिता कला से रहित चिच्छक्ति ही निष्कल ज्ञान शब्द से जानी जाती है, इस विषय को अब स्पष्ट करते हैं—

उस चिच्छक्ति से ही यह सारा विश्व प्रकाशित है। यह विश्व शक्ति का ही स्वरूप है। इसे ही सभी आलम्बनों से रहित निष्कल ज्ञान कहते हैं।।१४।।

उस अस्मिता कला से रहित चिच्छक्ति से इस संसार की अनन्त वस्तुएँ, जो जिस रूप में विद्यमान हैं, उसका बिना अतिक्रमण किये उसी रूप में प्रकाशित होती हैं। यह सारा पृथिवी से लेकर शिव पर्यन्त सभी तत्त्वों और तात्त्विकों का समूह शक्ति का ही ध्यान है, अर्थात् देश, काल आदि से अपरिच्छिन्न तथा मल, कर्म आदि उपाधियों से रहित शक्ति का ध्येय स्वरूप यही है। शक्ति के स्वरूप का यह निष्कल ध्यान (ज्ञान) सभी आलम्बनों से विनिर्मुक्त है, अर्थात् हेयता और उपादेयता से भिन्न महान् उपेक्षा के रूप में सभी प्राणियों के प्रति विरति-भाव के आ जाने से यह निष्कल ज्ञान केवल सर्वसाक्षी भगवान् तक ही सीमित रह जाता है, इसीलिये इसे सभी आलम्बनों से रहित कहा जाता है।।१४।।

साधकस्यैतन्निष्कलज्ञानमेव मोक्षसाधनमिति वक्ष्यते—

अहमंशेन यच्छून्यं चिन्मात्रालोकमद्वयम् ।
मुक्तिबीजं तदाख्यातं परयोगप्रवर्तकम् ।।१५।।

यत् किञ्चिद् ज्ञानम् अहमंशेन बिन्दुजन्यशब्दमायाजनिताहङ्कारसंमेलनभूताहमंशेन शून्यं रहितं नैयायिकाद्युक्तिवज्ज्ञानाभावं न भवतीत्यर्थ:। अद्वयं पूज्यपूजकध्यातृध्येयज्ञातृज्ञेयस्वरूपाद्यनेकभेदव्यापाररहितम्। चिन्मात्रालोकं ज्ञेयकार्योपाधिव्यतिरिक्तसंविन्मात्रालोकनं यत् स्फुरणमस्ति, तदेव परयोगप्रवर्तकं मन्त्रलयरूपराजयोगानामुत्तरभूतयोगे प्रवर्तकं संचारकं मुक्तिबीजं मोक्षस्य बीजं कारणमिति आख्यातम् उक्तम्।।१५।।

अब बताते हैं कि साधक के लिये यह निष्कल ज्ञान ही मोक्ष का साधन हैं—

'अहम्' इस अंश से जो रहित है, चिन्मात्र का जहाँ स्फुरण होता है, जो अद्वय तत्त्व है, वही ज्ञान मुक्ति का द्वार माना जाता है। यह ज्ञान साधक की श्रेष्ठ योग में प्रवृत्ति कराता है।।१५।।

कोई भी ज्ञान बिन्दु से उत्पन्न शब्द और माया से उत्पन्न अहंकार के संमिलित स्वरूप 'अहम्' से रहित नहीं होता, [१२]नैयायिकों की तरह यहाँ ज्ञान का अभाव नहीं माना जाता, क्योंकि सभी आलम्बनों से रहित, निष्कल ज्ञान की भी सत्ता यहाँ मान्य है। इसीलिये यह निष्कल तत्त्व द्वैत से रहित है, अर्थात् यह निष्कल ज्ञान पूज्य-पूजक, ध्याता-ध्येय, ज्ञाता-ज्ञेय जैसे नाना प्रकार के भेदबोधक व्यापारों से बहुत दूर है। यहाँ केवल चितिशक्ति का, संवित् का ही स्फुरण होता है, अतः इसके अतिरिक्त किसी औपाधिक ज्ञेय वस्तु की कोई सत्ता नहीं मानी जाती। यह चिति-शक्ति साधक को मन्त्रयोग, लययोग, [१३]रूपयोग और राजयोग नामक उत्तरोत्तर श्रेष्ठ योगों में प्रवृत्त करा कर मोक्ष का कारण बनती है।।१५।।

पूर्वोक्तनिर्विकल्पसंविद्रूपनियतकारणेन परकैवल्यमात्राभिलाषभूतसाधकनाडीचक्राद्यनन्तसविकल्पव्यवहरणानि त्यजेदिति ग्रन्थद्वयेन प्रतिपादयिष्यति—

चक्राणि नाडयः पद्मदेवताबीजमण्डलम्।
रूपमित्यादिकं किञ्चिद् ध्येयं नैव कदाचन।।१६।।

चक्राणि मूलाधारस्वाधिष्ठानमणिपूरकानाहतविशुद्धाज्ञादिचक्राणि च, नाडयः सुषुम्नापिङ्गलाऽलम्बुषागान्धारीडादिद्वात्रिंशन्नाडयश्च, पद्मदेवताबीजमण्डलं पद्मानि चतुष्षडष्टद्वादशषोडशद्विदलानि कमलानि च, देवता ब्रह्मविष्णुरुद्रेश्वरसदाशिवपरमात्मादिदेवताश्च, बीजानि नकारमकारशिकारवाकारयकारप्रणवादिबीजाक्षराणि च, मण्डलं सूर्यसोमाग्नीनां मण्डलत्रयं च, रूपं रक्तविद्युद्रत्नहेमाग्निमाणिक्यवर्णा-

---

१२. नैयायिकों के मत में पाषाणकल्प मुक्ति को मान्यता दी गई है। इसी मत की यहाँ समालोचना की गई है।

१३. मन्त्रयोग, लययोग और राजयोग के साथ यहाँ हठयोग का उल्लेख होना चाहिये था। कर्णाटक के सुप्रसिद्ध दार्शनिक निजगुण शिवयोगी ने कैवल्यपद्धति के योगप्रतिपादन-स्थल में मन्त्रयोग, लययोग, हठयोग, राजयोग और शिवयोग का वर्णन किया है। तदनुसार रूपयोग के स्थान पर हठयोग का उल्लेख होना चाहिये। अगले श्लोक में षड्विध रूप की चर्चा मिलती है। बौद्ध तन्त्र ज्ञानोदय में तथा पालि भाषा के योग-ग्रन्थों में रूप-कसिणों का उल्लेख मिलता है। हमें शैवागमों में रूपयोग की भी खोज करनी होगी।।

भिधानरूपं च, इत्यादि एवमादि, आदिशब्देन ओड्याणादिबन्धनानि षण्मुख्यादि-कारणानि च भेरीमृदङ्गाद्यनेकनादानि च ग्राह्याणि, किञ्चित् कदाचन ध्येयं न भवति।।१६।।

आगे के दो श्लोकों में यह बताया जा रहा है कि इस निर्विकल्पक संवित् के रहने पर कैवल्य की अभिलाषा रखने वाले साधक को देवाराधन, नाडी-चक्र आदि के अनुसन्धान जैसे अनन्त सविकल्पक व्यापारों का परित्याग कर देना चाहिये—

चक्र, नाड़ी, पद्म, देवता, बीज, मण्डल, रूप आदि के रूप में विविध शास्त्रों में प्रदर्शित वस्तुओं का ध्यान परमोक्ष के अभिलाषी को कभी नहीं करना चाहिये।।१६।।

मूलाधार, स्वाधिष्ठान, मणिपूर, अनाहत, विशुद्ध और आज्ञा नामक छः चक्र शास्त्रों में वर्णित हैं। सुषुम्ना, पिंगला, अलम्बुषा, गान्धारी, इडा इत्यादि [१४]बत्तीस नाड़ियाँ हैं। चार, छः, आठ, बारह, सोलह और दो दल वाले छः कमल हैं। ब्रह्मा, विष्णु, रुद्र, ईश्वर, सदाशिव और परमात्मा (शिव)—ये [१५]छः देवता हैं। नकार, मकार, शिकार, वाकार, यकार और प्रणव—ये छः बीज हैं। सूर्य, सोम और अग्नि के तीन मण्डल माने गये हैं। रक्त, विद्युत्, रत्न, हेम, अग्नि और माणिक्य—ये षड्विध रत्न और इनके वर्णों का रूप में अन्तर्भाव माना जाता है। आदि शब्द से ओड्याण[१६] आदि बन्धों, [१७]षण्मुख आदि कारणों तथा भेरी, मृदंग आदि के [१८]नादों का ग्रहण किया जाता है। परमुक्ति के साधक को इन सबका सहारा नहीं लेना चाहिये।।१६।।

---

१४. बत्तीस नाड़ियों का विवरण बौद्ध तन्त्रों में विस्तार से मिलता है। "भारतीय तन्त्रशास्त्र" (पृ. ११८) में समाविष्ट "मातृतन्त्र वर्णित वज्रदेह" शीर्षक निबन्ध में "देहगत नाडीचक्र" का विवरण देते समय उन तन्त्रों की और नाड़ियों की नामावली देखी जा सकती है।

१५. इनको कारणेश्वर कहा गया है। सिद्धान्तसारावलि की प्रस्तावना (पृ. ५३-५६) में 'कारणेश्वर त्याग' शीर्षक से इनका परिचय कराया गया है। "षट्त्यागात् सप्तमे लय:" यह वचन नेत्रतन्त्र (२२.२०) और स्वच्छन्दतन्त्र (४.२६७) में भी उपलब्ध है। इसकी प्रक्रिया वहीं देखनी चाहिये।

१६. ओड्याण आदि बन्धों का परिचय हठयोगप्रदीपिका (पृ. ३४) जैसे हठयोग के ग्रन्थों के दशविध मुद्रा एवं बन्धों के प्रकरण से प्राप्त किया जा सकता है।

१७. षट्शाम्भव मत में पंचायतन पूजा के पाँच देवों के साथ षण्मुख (स्कन्द=कुमार कार्तिकेय) का भी समावेश किया जाता है। कारण पद से यहाँ इन्हींका ग्रहण किया गया लगता है।

१८. अष्टविध, नवविध अथवा दशविध नाद (राव) का विवरण विविध ग्रन्थों के आधार पर नित्याषोडशिकार्णव के उपोद्घात (पृ. ६३-६५) की टिप्पणियों में दिया गया है।

कुहकं मन्त्रजालं च प्राणायामादि धारणम् ।
सर्वमेतन्न कर्तव्यं मोक्षमक्षयमिच्छता ।।१७।।

कुहकं मारणस्तम्भनमोहनाकर्षणोच्चाटनवश्यकरणाद्यनेकम्, कुहकं च मन्त्रजालं च समूहं च प्राणायामादि षट्त्रिंशद्द्वादशमात्रोत्तममध्यमाधमभूतप्राणायामश्च आदिशब्देन प्रत्याहारध्याने च, धारणम् अव्याकीर्णमनःसमेतामलबुद्धिप्रवाहसंतानरूपभूतध्याने ध्येयनिश्चलीभूतधारणं च, एतत् सर्वं समस्तम्, अक्षयं पुनरावृत्तिरहितम्, मोक्षं निःश्रेयसमिच्छता अभिलषता, न कर्तव्यं कर्तुं न योग्यमित्यर्थः।।१७।।

इसी तरह से कुहक, मन्त्रजाल, प्राणायाम, धारणा जैसे उपायों का भी सहारा नहीं लेना चाहिये। अक्षय मोक्ष को चाहने वाले व्यक्ति को यह सब कुछ नहीं करना चाहिये।।१७।।

मारण, मोहन, स्तंभन, उच्चाटन, आकर्षण और वशीकरण—ये षड्विध कर्म [१९]कुहक के नाम से प्रसिद्ध हैं। इन कुहक-प्रयोगों की सिद्धि के लिये शास्त्रों में विविध मन्त्र भी प्रदर्शित हैं। छत्तीस, चौबीस और बारह मात्राओं के आधार पर प्राणायाम के उत्तम, मध्यम और अधम[२०] भेदों का, आदि शब्द से [२१]प्रत्याहार और ध्यान का तथा अव्याकीर्ण, अर्थात् स्थिर मन के साथ निर्मल बुद्धि के निरन्तर प्रवाह के किसी स्वरूप के ध्यान और ध्येय वस्तु में स्थिर हुई धारणा का भी अभ्यास करने की यहाँ कोई आवश्यकता नहीं है। पुनरावृत्ति से रहित अक्षय मोक्ष की इच्छा रखने वाले व्यक्ति के लिये यह सब कुछ अनावश्यक है।।१७।।

---

१९. "कुहनेन प्रयोगेण" (श्लो.६५) विज्ञानभैरव के इस श्लोक की व्याख्या (पृ. ७१) में बताया गया है कि कुहन प्रयोग (जादू का खेल) मनुष्य के मन में तत्काल विस्मय पैदा करता है। जादूगर जब अपने जादू से जादुई बगीचा बनाता है, उसमें विचित्र फल-फूलों से लदे वृक्ष दिखाई देने लगते हैं; उस बगीचें में वह बिहार करता दिखाई पड़ता है, बाद में दिखाई पड़ता है कि उसके हाथ-पैर आदि अंग कट-कट कर गिर रहे हैं, फिर दिखाई पड़ता है कि वे पुनः आपस में जुड़ गये हैं। इन सब आश्चर्यजनक घटनाओं को देखकर देखने वाले का मन उस समय कुछ क्षण के लिये अद्भुत आनन्द से सराबोर हो जाता है। यहाँ बताया गया है कि भद्र पुरुष के लिये इस तरह के कार्य और मारण आदि कर्म अकरणीय हैं। कुहन और कुहक पर्यायवाची शब्द हैं।

२०. इन त्रिविध प्राणायामों का परिचय सिद्धान्तसारावलि (पृ. ११५-११६) में दिया गया है। हठयोगप्रदीपिका (पृ. १५-३३) में भस्त्रक आदि विविध प्राणायाम वर्णित हैं। विज्ञानभैरव के भाषाभाष्य (पृ. २९-३०) में अष्टविध प्राणायाम वर्णित हैं।

२१. ऊपर की १०वीं टिप्पणी देखिये।

स्वनिमित्तपञ्चकृत्योपरतपरमनिरुपाधिकचिन्मात्रवस्तुताद्रूप्यसम्बन्धिनो जीवन्मुक्तस्य सोपाधिकमात्रनिमग्नपूज्यपूजकादिकव्यापारो नास्तीति वदति—

नात्र पूजा नमस्कारो न जपो ध्यानमेव च।
केवलं ज्ञेय(ज्ञान)मित्युक्तं वेदितव्यं न किञ्चन।।१८।।

अत्र निरुपाधिकनिर्विकल्पयोगरूप(क?)निजावस्थायामित्यर्थ:। न पूजा अष्टविधार्चनादिबहिरङ्गपूजा नास्ति, बहिरङ्गपूजानिमित्तपदार्थप्राप्तिहेतुप्रारब्धकर्मभोगानवरतविलक्षितरूपेण शिथिलकारणत्वात् पूजा नास्तीत्यर्थ:। नमस्कार: "उरसा शिरसा दृष्ट्या मनसा श्रद्धया गिरा। पद्भ्यामुभाभ्यां बाहुभ्यां प्रणामोऽष्टाङ्ग उच्यते।।" प्रणा- मस्य ब्रह्मविष्णुरुद्रादिपदप्राप्तिफलत्वात् तदपि जीवन्मुक्तस्य नास्तीत्यर्थ:। न जप: जपो वाचिकोपांशुमानसभूतरूप:। "एकाक्षरं द्व्यक्षरं वा षडक्षरमथापि वा। अष्टाक्षरं वा मोक्षाय मन्त्रयोगी जपेत् सदा।।" इत्युक्तमन्त्रस्मरणरूपम्, अतो जपो नास्ति। ध्यानमपि नास्ति। शुद्धबुद्ध्या(द्धा)त्मकभावभावितानां तद्ध्येयाकारचिन्तामयान्त:करणपूजाऽपि नास्ति। केवलं ज्ञेय(ज्ञान)मित्युक्तम् अन्तर्भूतनदीप्रवाहमहासमुद्रवद् ज्ञातृज्ञान-व्यवहारनिवृत्तिपरसमरसीभूतचिन्मात्रैकरूप एवेत्यर्थ:। वेदितव्यं वेदितुं योग्यं किञ्चन किमपि नास्ति। स्वसंविदतिक्रान्तवस्तुभावत्वादित्यर्थ:।।१८।।

अपने पंचकृत्य व्यापार से उपरत परम निरुपाधिक चिन्मात्र परम शिव से तादात्म्य स्थापित कर लेने वाला साधक केवल सोपाधिक स्वरूप से संबद्ध पूज्य-पूजक आदि व्यापारों से विरत हो जाता है —

इस जीवन्मुक्त स्थिति में पूजा, नमस्कार, जप, ध्यान जैसी बाह्य क्रियाओं की कोई स्थिति नहीं रह जाती। यहाँ केवल ज्ञेय परम तत्त्व की ही सत्ता रह जाती है। इसको जान लेने के बाद जानने लायक फिर कुछ भी नहीं बचता।।१८।।

इस निरुपाधिक निर्विकल्पक योगरूप निज अवस्था को, स्व-स्वरूप को जान लेने की स्थिति में अष्टविध [२२]अर्चन आदि बहिरंग पूजा की कोई आवश्यकता नहीं रह जायगी, क्योंकि बहिरंग पूजा के साधन विभिन्न पदार्थों की प्राप्ति के निमित्त उसके प्रारब्ध कर्मों

२२. परशुरामकल्पसूत्र के परिशिष्ट में विविध उपचारों के प्रसंग में अष्टोपचार की चर्चा नहीं मिलती। सिद्धान्तसारावलि (पृ. १२३) में अहिंसा, इन्द्रियनिग्रह, क्षान्ति, दया, ज्ञान, तप, सत्य और भाव नामक अष्टविध पुष्पों के रूप में अष्टविध आन्तर अर्चन विधेयता की कोटि में आता है, किन्तु ये आन्तर पूजा के अंग हैं।

का भोग से उपक्षय हो गया है, वे शिथिल हो चुके हैं। नमस्कार की भी अब उसे कोई अपेक्षा नहीं रह जाती। अष्टांग प्रणाम आठ अंगों की सहायता से किया जाता है। वे [२३]आठ अंग हैं—उरस्थल, शिर, दृष्टि, मन, श्रद्धा, वाणी, दोनों पैर और दोनों हाथ। यह अष्टांग प्रणाम ब्रह्मा, विष्णु, रुद्र आदि पद की प्राप्ति के लिये किया जाता है। जीवन्मुक्त को इसकी भी कोई आवश्यकता नहीं रह जाती। इसी तरह से उसको वाचिक, उपांशु और मानस रूप त्रिविध जप की भी कोई जरूरत नहीं रहती। "एकाक्षर, द्व्यक्षर, षडक्षर अथवा अष्टाक्षर मन्त्र का जप मोक्ष की प्राप्ति के लिये मन्त्रयोगी को करना चाहिये" इस शास्त्र-वचन के अनुसार मन्त्र का जप अपेक्षित है। जीवन्मुक्त को अब इसकी भी अपेक्षा नहीं रहती। इसी तरह से उसके लिये ध्यान भी अनपेक्षित है। शुद्ध-बुद्ध आत्मा की भावना में निरन्तर लगे रहने वाले योगी के लिये अब इसके उपायभूत ध्येयाकार की अन्तःकरण में निरन्तर चिन्तन-रूप आन्तर पूजा की भी अब क्या आवश्यकता हो सकती है? अब तो वह स्वयं ही ज्ञान बन गया है, अर्थात् जिस परमशिव को जानने के लिये वह प्रयत्नशील था, अब वह स्वयं ही उस रूप में प्रतिष्ठित हो गया है। नदी का सारा अन्तःप्रवाह जैसे महासमुद्र में जाकर एकरस हो जाता है, उसी तरह से ज्ञाता, ज्ञान आदि का सारा व्यवहार निवृत्त होकर इस समरस स्थिति में चिन्मात्र-रूप में अवशिष्ट रह जाता है। इस स्थिति में जानने लायक कुछ भी नहीं बचा रहता, क्योंकि उसकी अपनी शुद्ध संवित् अब वस्तुग्रहण से ऊपर उठ गई है, उसके लिये सभी वस्तुओं की सत्ता समाप्त हो गई है।।१८।।

साक्षात्कृतनिःशेषविशेषानेकवस्तुपरिप्रेप्सुपरप्रकाशकसंविद्रूपपरमशिवसमरसीभूतनिजसंवित्करणद्वारा बहिर्मुखे सति बन्धनं स्यादिति वदति—

बहिराहितचित्तानां जायन्ते बन्धहेतवः।
बहिश्चित्तं निवार्यैव विन्दन् लोके न सीदति।।१९।।

बहिर्बाह्ये परशिवव्यतिरिक्तबिन्दुमायाजन्यानेकजडवस्तुनीत्यर्थः। आहितचित्तानाम् अध्यासीकृतचित्तानाम्, बन्धहेतवः कलादितत्त्वतात्त्विकरूपबन्धस्य कारणभूत-

---

२३. अष्टांग प्रणाम का लक्षण सात्वतसंहिता में इस प्रकार बताया गया है—"मनोबुद्ध्यभिमानेन सह न्यस्य धरातले।। कूर्मवच्चतुरः पादान् शिरस्तत्रैव पञ्चमम्।।" (६.१८७)। पारमेश्वरागम (पृ. ३७७) की टिप्पणी में अष्टांग एवं पंचांग प्रणाम के लक्षण दिये गये हैं। निगमागम शास्त्र के महान् विद्वान् श्रीमान् अप्पय दीक्षित ने शिवार्चनचन्द्रिका के प्रणामविधिप्रकरण (पृ. १००-१०१) में चतुर्विध (अष्टांग, पंचांग, त्र्यंग और एकांग) प्रणाम का निरूपण किया है।

पुण्या(पुण्या)त्मकरूपकर्मसंस्काराः, जायन्ते जन्यन्ते, शुद्धाध्वयोगसाधन-भूततत्त्वतात्त्विका अपि जन्यन्ते। अस्मात् कारणाद् बहिः बाह्यमुखीभूतं चित्तं चेतः, निवार्य त्यक्त्वा विन्दन् ज्ञायमानः पुरुषो लोके कालाग्न्याद्यनाश्रितान्तभुवनेषु न सीदति तत्तच्छरीरोपाधिको न भवति।।१९।।

समस्त नाना विशेषताओं से सम्पन्न विभिन्न प्राप्तव्य वस्तुओं का जिसने साक्षात्कार कर लिया है, जो परम प्रकाशात्मक संवित्स्वरूप परमशिव के साथ समरस हो गया है, ऐसा व्यक्ति भी यदि अपनी संवित्करणेन्द्रियों के वशीभूत हो बहिर्मुख हो जाता है, तो वह अवश्य ही बन्धन में पड़ जायगा —

बाह्य वस्तुओं में जो योगी अपने चित्त को लगा देता है, तो ये उसके लिये बन्धन का कारण बन जाती हैं। अतः बाह्य वस्तुओं की तरफ से अपने चित्त को हटा लेने वाला योगी ही इस लोक में अवसाद से मुक्त हो सकता है।।१९।।

बाह्य वस्तु से अभिप्राय परशिव के सिवाय बिन्दु, माया आदि से उत्पन्न सभी पदार्थों से है। इनमें अपने मन को लगा देने पर ये बन्धन के कारण बन जाते हैं, अर्थात् कला आदि तत्त्वों और इनके भुवनों का उपभोग करने से पुण्य-पाप रूप कर्मों के जो संस्कार पैदा होते हैं तथा शुद्धाध्वा में योगसाधना करने पर भी मन्त्र-मन्त्रेश्वर आदि के रूप में जो तत्त्वों और तात्त्विकों, तत्तद् भुवनगत भोगों के संस्कार जन्म लेते हैं, उससे वह योगी उन-उन भुवनों के भोगों में फँस जाता है। अतः योगी के लिये यह आवश्यक है कि वह इन सभी लौकिक और पारलौकिक भोगों से अपने चित्त को रोक कर परम तत्त्व के साक्षात्कार में ही निरन्तर लगा रहे। ऐसा पुरुष [२४]कालाग्नि से लेकर अनाश्रित पर्यन्त सभी भुवनों के बन्धनों में नहीं पड़ता, उन उन भुवनों में जन्म लेकर उसको नाना प्रकार के शरीरों को धारण नहीं करना पड़ता।।१९।।

निवृत्तबहिर्मुखव्यापारसंविन्मात्रपुरुषस्य एकदेशीयत्वादिकं नास्तीति कथयति—

नात्र किञ्चिद् बहिर्नान्तं न मध्यं नाप्यधः क्वचित् ।
सर्वाकारं निराकारं स्वसंवेद्यं विराजते ।।२०।।

अत्र निजसंविदि बहिर्भूतशब्दादिविषयश्च बहिर्लक्ष्यादिकमित्युक्तम्, किञ्चित् किमपि नास्ति। अन्तं नाशश्च अन्तर्लक्ष्यादिकमित्युक्तं च नास्ति। मध्यम् अहङ्कारादिकारणमध्यस्थितिश्च मध्यलक्ष्यादिकमित्युक्तं च नास्ति। अधः वर्णपदमन्त्र-भुवनतत्त्वकलानां वश्यत्वं च किञ्चिदपि कुत्रापि नास्ति। सर्वमेतत् पूर्वोक्तसमस्तवस्त्वेव

---

२४. कालाग्नि से लेकर अनाश्रित पर्यन्त २२४ भुवनों का वर्णन सिद्धान्त शैवागमों में मिलता है।

आकारो यस्य तत् सर्वाकारं च निराकारमाकारशून्यं च स्वसंवेद्यं स्वप्रकाशरूपं भूत्वा विराजते।।२०।।

इस तरह से बाहरी व्यापारों से बहिर्मुख होकर केवल संवित्स्वरूप में प्रतिष्ठित रहने वाले पुरुष की एकदेशीयता समाप्त हो जाती है—

निज संवित्स्वरूप में प्रतिष्ठित व्यक्ति के लिये बाहर, भीतर, मध्य, नीचे जैसे व्यापार समाप्त हो जाते हैं। वह तो अपने सर्वाकार अथ च निराकार स्वरूप में प्रतिष्ठित हो जाता है।।२०।।

इस निज संवित्स्वरूप में प्रतिष्ठित व्यक्ति के लिये बाहरी शब्द एवं भूत, पंचतन्मात्रा और पंचमहाभूत आदि विषयों को लक्ष्य बनाने लायक स्थिति नहीं रहती, क्योंकि उसके लिये इन बाहरी विषयों की सत्ता समाप्त हो जाती है। इसकी दृष्टि में किसी अन्तर्लक्ष्य की भी स्थिति नहीं रहती। इसकी अहंकार आदि के मध्य में भी स्थिति नहीं रहती, मध्य लक्ष्य का भी इसके लिये कोई उपयोग नहीं है। इसकी अध:स्थिति, अर्थात् वर्ण, पद, मन्त्र, भुवन, तत्त्व और कला नामक षडध्वात्मक संसार में अधोगति नहीं होती, वह इन सबके वशीभूत नहीं होता। ये समस्त पूर्वोक्त पदार्थ उसीका तो आकार हैं और वह स्वयं तो निराकार है, उसका कोई आकार नहीं है। वह तो स्वयं अपने आपमें प्रकाश-स्वरूप होकर, स्वयं ही प्रकाशित होकर विराजमान रहता है।।२०।।

सर्वाकारं निराकारमित्युक्तोभयशब्दाभ्यां निर्दिष्ट आत्मा यद्यद्वस्त्वाश्रयति, स तत्तदाश्रयानुसारगतिर्भवतीति कथयति—

यद्यदालोक्य यो जन्तुः कुरुते कर्मसंचयम्।
तद्गतिर्जायते यस्मान्निरालोकं तु चिन्तयेत्।।२१।।

यः कश्चिद् जन्तुः जीवः, यद्यत् तत्त्वमालोक्य उत्तरत्राभिमानतो निश्चित्य कर्मसंचयं कर्मणां स्वस्वविहितकर्मणां सञ्चयं समूहं कुरुते करिष्यते, तस्य तस्य पुरुषस्य तद्गतिः स्वस्य स्वस्य क्रियानुसारभूता गतिः प्राप्यस्थानगमनं जायते जनिष्यते। स्वस्वसमयविहिताचारानुष्ठानसिद्धिप्राप्तस्थानभूतरूपा भूतगतयः काः का इत्युच्यन्ते—कौलानां पिशाचपदप्राप्तिः, चार्वाकज्यौतिषपूर्वमीमांसकानां स्थूलभूतान्तरप्राप्तिः, स्मार्तानां तन्मात्राप्राप्तिः, इन्द्रियचैतन्यवादिनाम् इन्द्रियप्राप्तिः, मनश्चैतन्यवादिनां मनःप्राप्तिः, अहङ्कारचैतन्यप्रमाण(प्राण)चैतन्यवादिनाम् अहङ्कारप्राप्तिः, बौद्ध-नैयायिक-वैशेषिकाणां बुद्धितत्त्वप्राप्तिः, आर्हतानां सत्त्वसंभोगवादिनां च गुणतत्त्वप्राप्तिः, पाञ्चरात्रिकाणां प्रकृतितत्त्वप्राप्तिः, अद्वैतवादिनां पुरुषतत्त्वप्राप्तिः, सांख्यपातञ्जलानां गुणतत्त्वोर्ध्व(पुरुषतत्त्वोर्ध्व?)पुरुषतत्त्वभुवनप्राप्तिः,

पौराणिकानां रागतत्त्वप्राप्तिः, कापालिकानां कालतत्त्वप्राप्तिः, पाशुपतानामुत्पत्ति-साम्यवादिनामावेशसाम्यवादिनां च मायातत्त्वप्राप्तिः, महाव्रतानां शुद्धविद्यातत्त्वप्राप्तिः, शिवप्रयोज्यकर्तृत्ववादिनाम् ईश्वरौदासीन्यम्, उक्तकर्तृत्ववादिनां च ईश्वरतत्त्वप्राप्तिः, शाक्तानां शक्तितत्त्वप्राप्तिः, गारुडभैरववामभूततन्त्राणां च निवृत्त्यादिभुवनप्राप्तिः। एवमेव गतिर्भवतीत्यर्थः। यस्मात् कारणाद् निरालोकं तु निरुपाधिकमेव चिन्तयेत्, स्वसंवेद्यशब्देनापि यथाक्रमेण परप्रकाशस्वप्रकाशरूपतः शक्तिमन्तौ कथ्येते इत्यर्थः।।२१।।

ऊपर के २०वें श्लोक में निर्दिष्ट सर्वाकार और निराकार इन दोनों शब्दों के द्वारा निर्दिष्ट आत्मा जिस जिस वस्तु का सहारा लेता है, वह उस उस आश्रय के अनुसार ही स्वरूप धारण कर लेता है—

जो कोई प्राणी जिस किसी वस्तु को देखकर कर्म का संचय करता है, तदनुसार ही उसकी गति होती है, अतः साधक योगी को चाहिये कि वह निराकार की ही चिन्ता करे।।२१।।

जो कोई जीव जिस जिस तत्त्व का आश्रय लेकर, अर्थात् उस उस तत्त्व के अभिमानी देवता की अपने भावी जीवन में उपासना करते हुए उस उस शास्त्र के नियमों के अनुसार कर्मों का संचय करेगा, उस पुरुष की गति अपने द्वारा किये गये कर्मों के अनुसार ही होगी, वह अपने द्वारा किये गये कर्मों के अनुसार ही आगे की गति प्राप्त करेगा। अपने अपने शास्त्रों के द्वारा विहित नियमों के अनुसार आचरण करने वालों को कौन-कौन सी गतियाँ प्राप्त होती हैं, इसके विषय में शास्त्रों में इस प्रकार बताया गया है—कौलमत का अनुसरण करने वालों को पिशाच पद की; चार्वाक, ज्योतिष और पूर्वमीमांसा के अनुवर्तियों को [२५]स्थूल भूतों के अन्य लोकों की; स्मार्त मत वालों को तन्मात्राओं के लोकों की, इन्द्रियों को ही आत्मा मानने वालों को कर्मेन्द्रियों और ज्ञानेन्द्रियों के लोकों की, मन को आत्मा मानने वालों को मनस्तत्त्व के लोकों की, अहंकार को आत्मा मानने वालों को अहंकार तत्त्व के लोकों की; बौद्ध, नैयायिक एवं वैशेषिकों को बुद्धितत्त्व के लोकों की, जैनों एवं [२६]सत्त्वसंभोगवादियों को गुण तत्त्व के लोकों की, पांचरात्र मत के

---

२५. *सिद्धान्त शैवागमों की पद्धति के अनुसार स्थूल भूतों में पृथ्वी के १०८ भुवन तथा जल, तेज, वायु और आकाश में से प्रत्येक के आठ-आठ भुवन परिगृहीत होते हैं।*

२६. *सत्त्वसंभोगवादियों की चर्चा परमोक्षनिरासकारिका (श्लो. ३) में मिलती है। वहाँ रामकण्ठ ने अपनी वृत्ति (पृ. २८०) में इस शब्द की व्याख्या प्रस्तुत की है। उससे ऐसा प्रतीत होता है कि यहाँ किसी वैष्णव मत की चर्चा की गई है। रामानुज वेदान्त में नित्यविभूति को शुद्ध-सत्त्वमय माना गया है। शुद्धसत्त्व का लक्षण यतीन्द्रमतदीपिका में इस प्रकार बताया गया*

अनुवर्तियों को प्रकृति तत्त्व के लोकों की, अद्वैतवादियों को पुरुष तत्त्व के लोकों की, सांख्य और पातंजल मत के अनुयायिकों को गुणतत्त्व के ऊपर के पुरुष तत्त्व के भुवनों की प्राप्ति होती है। इसी तरह से पौराणिकों को राग तत्त्व के, कापालिकों को कालतत्त्व के; पाशुपतों, [२७]उत्पत्तिसाम्यवादी कालामुखों और आवेशसाम्यवादी शैवों को माया तत्त्व के और महाव्रतियों को शुद्धविद्या तत्त्व के लोकों की प्राप्ति होती है। शिव-प्रयोज्य अनन्त आदि को सृष्टि का कर्ता मानने वालों को ईश्वर तत्त्व के प्रति उदासीन भाव रहता है। शिव को सृष्टि का कर्ता मानने वालों को ईश्वर तत्त्व के लोकों की, शाक्तमत के अनुयायियों को शक्ति तत्त्व के लोकों की और इसी तरह से [२८]गारुड़, भैरव, वाम और भूत तन्त्रों के अनुयायियों को निवृत्ति आदि के भुवनों की प्राप्ति होती है। इन इन विभिन्न मतों के अनुयायियों को इन इन विभिन्न भुवनों की गति प्राप्त होती है, अतः साधक योगी को चाहिये कि वह भगवान् के निरुपाधिक स्वरूप की ही आराधना करे। २०वें श्लोक में जो स्वसंवेद्य शब्द आया है, उससे क्रमशः परप्रकाशक एवं स्वप्रकाश शक्ति एवं शक्तिमान् शिव का ग्रहण किया जाता है। अभिप्राय यह है कि शिव-शक्ति के इस समरस स्वसंवेद्य स्वरूप की प्राप्ति के लिये ही साधक को सदा सचेष्ट रहना चाहिये।।२१।।

अस्य जीवन्मुक्तस्य संविदः सर्वाधिष्ठातृत्वेन सर्वाकारत्वोपचारकरणत्वाद् वेदान्तशास्त्रोक्तप्रकारेण परिणामो नास्तीति सूचयन् निराकारस्वरूपमेव हेतुतः समर्थयते—

हेतुर्नास्ति फलं नास्ति नास्ति कर्म स्वभावतः।
असद्भूतमिदं सर्वं नास्ति लोको न लौकिकः।।२२।।

है—"शुद्धसत्त्वं नाम त्रिगुणद्रव्यव्यतिरिक्तत्वे सति सत्त्ववत्त्वम्" (पृ. ५२)। यहाँ (पृ. ५१-५३) के नित्यविभूति के विवरण को देखने से ऐसा प्रतीत होता है कि सत्त्वसंभोगवादियों को यही स्थिति अभिप्रेत है।

२७. सिद्धान्तशैव, पाशुपत, कालामुख और कापालिक नामक चतुर्विध शैवों की चर्चा हम अनेक स्थलों पर कर चुके हैं। ये सभी मत मोक्ष की स्थिति में शिवसाम्य के पक्षपाती हैं, तो भी मोक्षप्राप्ति की पद्धति में इनमें परस्पर मतभेद है। ये मत क्रमशः अभिव्यक्ति, संक्रान्ति, उत्पत्ति और आवेश की पद्धति से शिवसाम्य के पक्षपाती हैं। परमोक्षनिरासकारिका (श्लो. ७) और शैवपरिभाषा (पृ. १५६-१५७) में इस विषय को स्पष्ट किया गया है।

२८. शिव के पाँच मुखों से उद्भूत २८ सिद्धान्त शैवागमों, २८ गारुड़ तन्त्रों, ३२ अथवा चौसठ भैरवागमों, २४ वाम तन्त्रों और २० भूत तन्त्रों की नामावली प्रतिष्ठालक्षणसारसमुच्चय, श्रीकण्ठीसंहिता जैसे ग्रन्थों में देखी जा सकती है। लुप्ता. के उपोद्घात (पृ. ९१-९३) में भी अक्षर-क्रम से यह नामावली दी गई है।

हेतुः शुद्धाशुद्धमायाबीजाङ्कुरकारणभूताणवमलो नास्ति, तीव्रतरादिशक्तिपात-स्वरूपदीक्षाया विशिष्टत्वादित्यर्थः। फलं तत्त्वभुवनकरणभोगाद्याकारं फलं नास्तीत्यर्थः। पूर्वजन्मकृतक्रियाचर्याद्यनुष्ठानातिशयेन दग्धपदमात्र इवावशिष्ट इत्यर्थः। कर्म पुण्यापुण्यमेव स्वभावतः स्वरूपतयैव नास्ति। परमेश्वरानुग्रहकरणभूतदीक्षारूप-क्रियाशक्त्या संचितकर्मनाशः, निष्कामविहितानुष्ठानेनागामिकर्मणो निरोधः, चरमशरीर-स्थितसाधनप्रारब्धकर्मनिःशेषभोगकारणेन वासनाशेषमित्यर्थः। इदं दृश्यभूतशिथिलकर्म-करणादि सर्वमसद्भूतं तत्तत्स्वरूपाभासमित्यर्थः। तस्मात् कारणाद् लोको भुवनं नास्ति। लौकिको भुवनान्तर्गतव्यवहारो नास्ति।।२२।।

इस जीवन्मुक्त योगी की संवित् सर्वत्र विद्यमान है, सभी आकारों को स्वरूप देने में समर्थ है, अतः शिवशासन में वेदान्तशास्त्र के अनुसार परिणामवाद स्वीकृत नहीं है, इसी विषय की सूचना देते हुए पुनः भगवान् के निराकार स्वरूप का युक्तियों के सहारे समर्थन करते हैं—

इस संसार में हेतु (कारण) की और उसके फल की भी कोई वास्तविक सत्ता नहीं है। स्वभावतः कर्म भी विद्यमान नहीं है। इस संसार में सब कुछ असत्स्वरूप है, केवल उसका आभास होता है। इस तरह से इस लोक की और सारे लौकिक व्यवहारों की कोई वास्तविक स्थिति नहीं है।।२२।।

शुद्ध एवं अशुद्ध माया रूपी बीज को अंकुरित करने वाला आणव [२९]मल ही इस संसार का कारण माना जाता है। तीव्रतर शक्तिपात के कारण प्राप्त दीक्षा से इसका क्षय हो जाने से इसकी सत्ता समाप्त हो जाती है। इसके समाप्त हो जाने से [३०]तत्त्व, भुवन, करण, भोग आदि के रूप में उपस्थित फल की भी कोई स्थिति नहीं रह जाती। अभिप्राय यह है कि पूर्व जन्म में किये गये कर्मफल की स्थिति क्रिया और चर्या के अनुष्ठान से जले हुए कपड़े की सी रह जाती है। पुण्य और अपुण्य रूप कर्म की भी वास्तव में कोई स्थिति नहीं रह जाती। परमेश्वर की अनुग्रह शक्ति के कारण प्राप्त [३१]दीक्षाव्यापार-

---

२९. "मलमज्ञानमिच्छन्ति संसाराङ्कुरकारणम्" (१.२३) मालिनीविजय के इस वचन में आणव मल का लक्षण बताया गया है। लुप्ता. के उपोद्घात (पृ. १३६-१३८) में इसका विस्तृत विवरण देखिये।

३०. ऊपर की ७वीं टिप्पणी देखिये। तत्त्व (तनु), भुवन, करण और भोग (भाव) शब्दों का अर्थ वहाँ बताया जा चुका है।

३१. आँख का चिकित्सक शल्यक्रिया से जैसे मोतियाबिन्द को निकाल देता है, उसी तरह से गुरु दीक्षाव्यापार से त्रिविध मल का अपसारण कर देता है। ज्ञानदान और मलक्षपण—ये ही दो दीक्षा के मुख्य प्रयोजन हैं।

रूप क्रिया-शक्ति से संचित कर्मों का नाश हो जाता है तथा निष्काम भाव से अनुष्ठित होने से आगामी कर्मफल की उत्पत्ति ही नहीं होती। इस अन्तिम शरीर की स्थिति के लिये प्रारब्ध कर्म के भोगों के पूरा हो जाने पर केवल उसकी वासना ही बची रहती है[३२]। इस तरह से हेतु, फल, कर्म आदि की कोई स्थिति न रहने से यह भुवन और भुवनान्तर्गत सारा व्यापार आभासमात्र है, उसकी कोई वास्तविक स्थिति नहीं है।।२२।।

लोकलौकिकव्यवहारविलक्षणता निरुपाधिकत्वस्य हेतुरिति वदति—

निरालम्बमिदं सर्वं निरालम्बप्रकाशितम्।
निरालम्बमिदं कृत्वा निरालम्बो भविष्यति।।२३।।

निरालम्बप्रकाशितं निरुपाधिकपरमशिवेन प्रकाशितं परिणामरूपभूताभिव्यक्तिसहितम्, इदम् एतद् दृश्यमानभूतं सर्वं तनुकरणादिवस्तुसमूहः, निरालम्बं निराकारबिन्दुमायास्वरूपम्, अव्यावृत्तापरपर्यायप्रकृतिविकृतिरूपमायाबिन्दुपरिणामेषु तत्त्वतात्त्विकादिस्थूलरूपविकृतित्वमेवोपचारकारणत्वाद् निराकारात्मप्रकृतित्वमेव बिन्दुमाययोः सहजत्वात् कारणस्वरूपेण दृश्यमानप्रपञ्च एव जीवन्मुक्त इत्यर्थः। इदमेतज्ज्ञानं निरालम्बं निरुपाधिकभूतं कृत्वा कल्पयित्वा निरालम्बः समस्तोपाधिरहितो भविष्यति।।२३।।

लोक और लौकिक व्यवहार से विलक्षण निरुपाधिक तत्त्व से ही इन सबकी प्रतीति होती है, इस विषय को अब पुष्ट करते हैं—

निरालम्ब शिव से प्रकाशित यह सारा विश्व स्वयं भी वास्तव में निरालम्ब ही है। नाना रूपों में भासित हो रहे इस जगत् को निरालम्ब बना लेने वाला योगी स्वयं भी निरालम्ब शिवस्वरूप हो जाता है।।२३।।

निरालम्ब, निरुपाधिक परमशिव के द्वारा प्रकाशित, स्वयं ही पंचमहाभूत आदि के रूप में अभिव्यक्त, यह दिखाई पड़ने वाला सारा शरीर, इन्द्रिय, भुवन का स्वरूप वास्तव में निरालम्ब है, निराकार बिन्दु (महामाया), माया, प्रकृति-स्वरूप है। इसका अभिप्राय है कि भगवान् शिव की कभी परिणत न होने वाली जो मूल प्रकृति है, माया, बिन्दु आदि उसीके विकार हैं, औपचारिक रूप से वास्तव में भगवान् की मूल प्रकृति ही तत्त्वों और उनसे निर्मित भुवनों आदि के रूप में भासित होती है। इनका स्थूल रूप विकारात्मक प्रकृति की तथा निराकार सूक्ष्म रूप बिन्दु और माया की कारणता को सहज रूप से प्रकट करता है। इस सहज भाव से प्रपंच को देखने वाला योगी जीवन्मुक्त हो

---

३२. *"तिष्ठति संस्कारवशात् चक्रभ्रमिवद् धृतशरीरः" (का. ६७) सांख्यकारिका के इस वचन में यही बात कही गई है।*

जाता है। इस तरह से महामाया (बिन्दु), माया और प्रकृति से उद्भूत इस पूरी सृष्टि को आभासमात्र समझ कर, अर्थात् जागतिक ज्ञान को सभी उपाधियों से मुक्त कर, उसको कल्पनामात्र समझ कर साधक योगी स्वयं भी अपने निरालम्ब, निरुपाधिक परमशिव स्वरूप में प्रतिष्ठित हो जायगा।।२३।।

सोपाधिकत्वं संसृतिर्भवतीति दृष्टान्तपुरस्सरं वक्ष्यति—

व्योमाकारं महाशून्यं व्यापकं यो न भावयेत्।
संसारी स भवेल्लोके बीजकोशक्रिमिर्यथा।।२४।।

व्योमाकारं व्योम चिदाकाश आकार: स्वरूपं यस्य, चिदाकाशमेव स्वरूपमित्यर्थ:। महाशून्यं बिन्दुमायाद्यनेकनिराकारवस्तुगर्भीकरणसामर्थ्येन परशून्यरूपभूतमित्यर्थ:। व्यापकं पृथिव्यादिशिवतत्त्वान्ततत्त्वतात्त्विकाद्यनवच्छिन्नत्वं यो न कश्चिद् भावयेद् न विचिन्तयेत्। निरुपाधिकचिदात्मानं न जानातीत्यर्थ:। स एवंप्रकारभावनारहितो बीजकोशक्रिमि: बीजस्य कोशे भव: क्रिमि: बीजकोशक्रिमि:। चणकादिबीजस्य कोशे छिद्रे क्रिमि: प्राणी यथा, तथा लोके राज्ये संसारी जननमरणादियुक्तो भवेत्। चणकादिबीजाभ्यन्तरजनितप्राणिवर्गनि:शेषभक्षितस्वाश्रयशून्यभावाद् उत्तरभोगनिमित्तशिष्टबीजांशे सति तद्बीजस्य पाथ:पवनतेजस्संयोगत: सस्याकारत्वात् तत्कृमीणां सस्याङ्कुरोत्पत्तिसमये मरणफले सिद्धे पुनर्जननं यथा भवति, तथैवात्मा स्वशरीरे निरुपाधिकरहित: सोपाधिकयुक्तश्चेज्जननमरणादिसंसारी भवेदित्यर्थ:। पूर्वोक्तवादिनां सालम्बनतया पुनरावृत्तिसाधनाभिमानिकमोक्षत्वहेतुना निरालम्बमेवाश्रयेदित्यर्थ:।।२४।।

उपाधि से आवृत हो जाने का ही नाम संसार है, इस विषय को अब दृष्टान्त देकर समझाया जा रहा है—

व्योमाकार, चिदाकाश-स्वरूप महाशून्य ही सर्वत्र व्याप्त है। इस तरह की भावना जो नहीं करता, वह चने आदि के बीज में प्रविष्ट घुन के समान सदा इस संसार में ही पड़ा रहता है।।२४।।

व्योम शब्द से यहाँ चिदाकाश का ग्रहण किया जाता है। महाशून्य का स्वरूप चिदाकाश सरीखा ही है, अर्थात् इनमें कोई अन्तर नहीं है, क्योंकि इस महाशून्य में बिन्दु, माया आदि अनेक निराकार वस्तुओं को अपने गर्भ में रखने की सामर्थ्य है, अत: यह परमशून्य-स्वरूप है। यह सर्वत्र व्यापक भी है, क्योंकि वह पृथिवी से लेकर शिव तत्त्व पर्यन्त समस्त तत्त्व-तात्त्विक व्यवहार से अनवच्छिन्न है, यह इन सबके ऊपर है। जो व्यक्ति इस महाशून्य का इस रूप से ध्यान नहीं करता, अर्थात् इस निरुपाधिक चिदात्मा

के स्वरूप को जान नहीं पाता, मैं चिदात्मस्वरूप ही हूँ, जो इस तरह की भावना नहीं कर पाता, वह बीजकोश के कृमि के समान, चणक (चना) आदि के बीज के भीतर पैदा हुए कीड़े (घुन) के समान इस संसार में ही जन्म-मरण के चक्कर में पड़ा रहता है। अभिप्राय यह है कि चने आदि अन्न के दानों के भीतर पैदा होकर घुन उसको पूरी तरह से खोखला कर देता है और इस तरह से वह आश्रयरहित हो जाता है। इसके साथ ही उसके आगे के भोग के लिये बीज का कुछ अंश बचा रहता है। इस बचे हुए बीज के पृथिवी, जल, तेज आदि के संयोग से अंकुरित होने पर उस कृमि की मृत्यु हो जाने पर पुनः उसकी उत्पत्ति हो जाती है, उसी तरह से यदि यह जीवात्मा अपने शरीर की उपाधियों से घिरा रहता है, तो वह भी अवश्य ही उस कृमि की ही तरह इस संसार के जन्म-मृत्यु के प्रवाह में संसारी जीव के रूप में निरन्तर बहता रहेगा। ऊपर जिन विभिन्न वादों और उनका अनुसरण करने वाले व्यक्तियों की जो चर्चा की गई है, वे सब किसी न किसी आलम्बन का सहारा लेते हैं, अतः उनकी पुनरावृत्ति होती है, क्योंकि उनको आभिमानिक, काल्पनिक मोक्ष की प्राप्ति होती है। इस काल्पनिक मोक्ष से मुक्ति पाने के लिये व्यक्ति को निरालम्ब परमशिव पद का ही सहारा लेना पड़ेगा।।२४।।

पुनरावृत्तिसंभवमहादुःखनिवृत्त्यर्थं निरालम्बमेवाश्रयितुमिष्टमिति कथयति—

ज्ञानोत्पत्तिनिमित्तं तु क्रियाश्चर्याः प्रकीर्तिताः ।
योगं सालम्बनं त्यक्त्वा निष्प्रपञ्चं विचिन्तयेत् ।।२५।।

क्रियाः क्रियापादप्रतिपाद्यमानमन्त्रोद्धारपूजासमयविशेषनिर्वाणसंस्काराचार्याभिषेकसाधकाभिषेकसबीजनिर्बीजलोकधर्मिणीशिवधर्मिणीभौतिकीनैष्ठिकीदीक्षानुष्ठानानि, चर्याः चर्यापादप्रतिपाद्यमानप्रायश्चित्तलिङ्गलक्षणस्कन्दनन्द्यादिगणेश्वरलक्षणजपमालालक्षणजटाधारणलक्षणानि। एवंभूताः क्रियाश्चर्या ज्ञानोत्पत्तिनिमित्तं ज्ञानोत्पत्तेः कारणम्, ज्ञानं निरुपाधिकवस्तुरूपसामरस्यरूपम्, ज्ञानस्य उत्पत्तिरभिव्यक्तिरेव निमित्तं प्रयोजनं यस्मिन् तद्यथा तथा, यद्वा ज्ञानोत्पत्त्यर्थं प्रकीर्तिताः कामिकादिवातुलान्ततन्त्रसमुदायेनानुग्राह्यानुग्राहकतारतम्यानुसारतः परमेश्वरेण प्रकर्षेण निरूपिताः। तयोः क्रियाचर्ययोरनुष्ठानफलरूपज्ञानेन सालम्बनं बिन्दुनादमन्त्राद्यालम्बनेन सहितं योगमणिमाद्यैश्वर्यसाधनप्राणायाममयोगं त्यक्त्वा विसृज्य निष्प्रपञ्चं सकलनिष्कलादिप्रपञ्चव्यतिरिक्तभूतचिद्घनैकवस्तु एव चिन्तयेद् ध्यायेत् ।।२५।।

पुनरावृत्ति संभव है, इस महादुःख की चिन्ता की निवृत्ति के लिये निरालम्ब परमशिव का आश्रय लेना ही श्रेयस्कर है—

क्रिया और चर्या को ज्ञान की उत्पत्ति का निमित्त माना गया है। इस ज्ञान की उपलब्धि हो जाने पर अपने आलम्बनों के साथ योगाभ्यास को भी छोड़ कर निष्प्रपंच परमशिव का ही ध्यान करना चाहिये।।२५।।

आगमों के क्रियापाद में प्रतिपादित मन्त्रोद्धार, पूजा, विशेष समयों (नियमों) का पालन, निर्वाण-संस्कार, आचार्य का अभिषेक, साधक का अभिषेक एवं सबीज, निर्बीज, लोकधर्मिणी, शिवधर्मिणी, भौतिकी, नैष्ठिकी दीक्षा—इन सबका ग्रहण **क्रिया** शब्द से किया जाता है। इसी तरह से चर्या पाद में प्रतिपादित प्रायश्चित्त का, लिंग का तथा स्कन्द, नन्दी, गणेश्वर आदि की मूर्ति का लक्षण, जपमाला का और जटाधारण का लक्षण—इन सबका **चर्या** शब्द से ग्रहण किया जाता है। इस तरह की क्रियाओं और चर्याओं के अनुष्ठान से ज्ञान की उत्पत्ति होती है। ज्ञान शब्द से यहाँ निरुपाधिक वस्तु परमशिव के साथ अपने सामरस्य की प्रतीति का ग्रहण किया जाता है। उस ज्ञान की अभिव्यक्ति के लिये ही क्रिया और चर्या का सहारा लिया जाता है। इस विषय का प्रतिपादन परमेश्वर ने स्वयं कामिक से लेकर वातुल पर्यन्त २८ तन्त्रों के समुदाय में किया है। अनुग्राह्य और अनुग्राहक की शक्ति के तारतम्य को देखकर ही परमेश्वर ने इन विशिष्ट विभिन्न उपायों का विशेष रूप से उपदेश किया है। इन क्रिया और चर्या के रूप में वर्णित उपायों के अनुष्ठान से फलस्वरूप ज्ञान की प्राप्ति हो जाने पर बिन्दु, नाद, मन्त्र आदि का सहारा लेने वाले, अणिमा आदि ऐश्वर्य को देने वाले योग का और प्राणायाम आदि योगांगों का भी परित्याग कर सकल, निष्कल आदि प्रापंचिक स्वरूप से भिन्न चिद्घन स्वरूप परमशिव का ही ध्यान करना चाहिये।।२५।।

शुद्धाशुद्धभोगाकाङ्क्षारहितत्वं विना निरालम्बयोगो न भवतीति कथयति—

पातालात् शक्तिपर्यन्तं सर्वमेतदभीप्सितम्।
भग्नं यैः शून्यमन्त्रेण ते स्मृताः शून्यवेदिनः।।२६।।

पातालात् पातालस्थितकालाग्निरुद्रभुवनमारभ्य शक्तिपर्यन्तं शक्तितत्त्वावसानम्, अभीप्तितं भोगासक्तिहेतभूतशुद्धितारतम्येनाभिलषितम्, एतद् इदं सर्वं शुद्धाशुद्धरूपभूत-चतुर्विंशोत्तरद्विशतभुवनानां समस्तभोगजातम्, यैः शून्यमन्त्रेण शून्यमिति स्वनिमित्तसृष्टि-स्थितिसंहारतिरोभावरूपकृत्यचतुष्टयेन शून्यभूतमन्त्ररूपानुग्रहशक्तिप्रेरणया भग्नं नाशीकृतम्, ते शून्यवेदिनो निरुपाधिकवस्तुज्ञाना इति स्मृताः।।२६।।

शुद्ध और अशुद्ध सभी प्रकार के भोगों की आकांक्षा को छोड़े बिना निरालम्ब योग की प्राप्ति नहीं हो सकती—

पाताल से लेकर शक्ति पर्यन्त यह सारा विश्व सभी प्राणियों के लिये बहुत लुभावना है। शून्य मन्त्र से, भगवान् की अनुग्रह शक्ति की प्रेरणा से जिन्होंने इस भोगाकांक्षा का परित्याग कर दिया है, वे ही उस परमशिव के निरुपाधिक स्वरूप को जान सकते हैं।।२६।।

पृथ्वी तत्त्व के पाताल स्थित प्रथम कालाग्नि भुवन से लेकर शक्ति तत्त्व के अन्तिम भुवन पर्यन्त समस्त भुवनों में विद्यमान लुभावने भोगों में मनुष्य की कम या अधिक अभिलाषा जागती रहती है। इन सब शुद्ध अथवा अशुद्ध २२४ संख्या के [३३]भुवनों के समस्त भोगों को जो शून्य मन्त्र से नष्ट कर देते हैं, अर्थात् समस्त सृष्टि के निमित्तभूत सृष्टि, स्थिति, संहार और तिरोभाव नामक शिव के चार कृत्यों से शून्य हुए एवं मन्त्र शक्ति के सहारे अभिव्यक्त हुए अनुग्रह नामक शिव के पंचम कृत्य की प्रेरणा से नष्ट कर देते हैं, वे ही साधक निरुपाधिक परमशिव के स्वरूप को जानने में समर्थ हो सकते हैं।।२६।।

चित्तचाञ्चल्यस्य भोगाश(स)क्तिरेव निमित्तमिति दृष्टान्तपुरस्सरं समर्थयन् काले निरालम्बपदस्थितिनिश्चलीभूते मानसमेव मोक्षस्थानगमनयोग्यमिति वदति—

विषये लोलुपं चित्तं मर्कटादपि चञ्चलम् ।
सर्वशून्यपदे स्थित्वा ततो निर्वाणमेष्यति ।।२७।।

विषये शुद्धाशुद्धरूपविषये, लोलुपमासक्तं मर्कटादपि वानरादपि, अतिमधुर-पक्वफलनिचयलसितरसालशाखावलम्बितक्षुद्बाधितवानरादपीत्यर्थः। चञ्चलं मन्त्र-मन्त्रमहेश्वरादिपददिव्यभोगाकाङ्क्षया चञ्चलं चपलं चित्तं सर्वशून्यपदे समस्तोपाधिना शून्यभूते, पदे प्राप्यस्थाने, स्थित्वा उसि(षि)त्वा, ततः तस्याः स्थितेः, निर्वाणम् अपुनर्भवरूपनिर्वृतिम्, एष्यति प्राप्स्यति। चित्तशब्देन चित्तोपाधिकात्मनिजसंविदि-त्यर्थः सूचितः।।२७।।

भोगासक्ति ही चित्त की चंचलता का प्रधान कारण है, इस विषय को दृष्टान्त देकर समझाते हुए यहाँ बताया जा रहा है कि समय आने पर निरालम्ब पद में स्थिर हुआ मन ही मनुष्य को मोक्षपदवी तक ले जाने में समर्थ होता है—

---

३३. पृथ्वी से लेकर शिव पर्यन्त ३६ तत्त्वों में विद्यमान कालाग्नि से लेकर अनाश्रित पर्यन्त २२४ भुवनों की चर्चा ऊपर २४ वीं टिप्पणी में आ चुकी है। मतंगपारमेश्वर के विद्यापाद के संस्कृत उपोद्घात (पृ. ४८) में विभिन्न आगमों में वर्णित भुवनों की विभिन्न संख्याएँ निर्दिष्ट हैं।

विषयों के प्रति लोलुप, उनके प्रति आकृष्ट हुआ चित्त मर्कट (वानर) से भी अधिक चंचल होता है। इसको शून्यपदवी की ओर ले जाने पर ही मनुष्य निर्वाण को प्राप्त कर सकेगा।।२७।।

शुद्ध अथवा अशुद्ध, सभी प्रकार के विषयों में आसक्त हुआ मनुष्य का मन अत्यन्त मधुर पके हुए फलों से लदी हुई आम के वृक्ष की शाखाओं पर लटके हुए भूखे वानर की अपेक्षा अधिक चंचल होता है, क्योंकि उसके सामने मन्त्र, मन्त्रेश्वर, मन्त्रमहेश्वर आदि पदों के लुभावने दिव्य भोगों की प्राप्ति की आकांक्षा जगी रहती है। इस चंचल चित्त को समस्त उपाधियों से शून्य परमपद में विश्राम मिलने पर ही वह मनुष्य को पुनर्जन्म से रहित निर्वाणपदवी को प्राप्त कराने में समर्थ हो सकता है। यहाँ चित्त शब्द से चित्त में विद्यमान आत्मसंवित् का ग्रहण किया जाता है। इसका अभिप्राय यह है कि भगवान् के अनुग्रह व्यापार से चित्त निर्मल हो संवित्स्वरूप हो जाता है और इसी आत्मसंवित् के सहारे साधक परमशिव के निरुपाधिक स्वरूप को जान पाता है।।२७।।

परनिर्वृतियोग्यचैतन्यस्य सहजस्वरूपं कथयति—

सर्वतत्त्वाद्यसंभिन्नं देहाद् भिन्नं तथैव च।
अहमस्मा(स्म्या)द्यसंभिन्नं चैतन्यं सर्वतोमुखम्।।२८।।

चैतन्यं शुद्धावस्थासंयुक्तं चैतन्यं सर्वतत्त्वाद्यसंभिन्नं सर्वतत्त्वप्रमुखैः सह, आदिशब्देन भुवनादिभिश्च सह, असंभिन्नम् असंबद्धम्, अहमस्मा(स्म्या)द्यसंभिन्नं त्रिंशतत्त्वात्मकसूक्ष्मशरीरोपाधिकव्यापारभूताहमस्म्यादिसंकल्पजालतः, असंभिन्नं च असंबद्धम्, सर्वतोमुखं व्यापकम्, व्यापकत्वतः सकलप्रपञ्चसम्बन्धत्वेऽप्यध्यासशून्यत्वमेतीत्यर्थः।।२८।।

समस्त जागतिक व्यवहार से मुक्त हो जाने वाले इस चैतन्य के सहज स्वरूप को अब बता रहे हैं—

सभी तत्त्व, भुवन आदि से असंपृक्त तथा देह, इन्द्रिय आदि से भी असंपृक्त, एवं अहं-मम इत्यादि अभिमानों से भी असंपृक्त, अर्थात् इन सबसे भिन्न सर्वत्र व्याप्त चैतन्य ही मनुष्य का निज सहज स्वभाव है।।२८।।

चैतन्य शब्द से यहाँ शुद्ध अवस्था में प्रतिष्ठित चैतन्य का ग्रहण किया जाता है। सभी तत्त्वों के साथ समस्त भुवनों से असंबद्ध, "अहं-मम" इत्यादि अभिमानों से शून्य, अर्थात् पृथ्वी से लेकर कला पर्यन्त तीस तत्त्वों से बने सूक्ष्मशरीर की उपाधि के कारण "मैं हूँ, मेरा है" इस तरह के नाना प्रकार के संकल्पों के जाल से मुक्त यह शुद्ध चैतन्य ही सर्वत्र व्याप्त है। सर्वत्र व्यापक रूप से स्थित होने के कारण समस्त प्रपंच से संबद्ध होने पर भी उसके अध्यास से उत्पन्न दोषों से यह सर्वथा मुक्त है।।२८।।

"पाशावलोकनं त्यक्त्वा स्वरूपालोकनं हि यत्। आत्मव्याप्तिर्भवेदेषा शिवव्याप्तिस्ततोऽन्यथा।।" (स्व.त. ४.४३४) इत्युक्तग्रन्थानुसारतस्तत्त्वतात्त्विकावलोकनात्मिकाधोमुखतातो निवृत्तः स्वस्वरूपलाभोत्तरताप्राप्तिसंविदा निरुपाधिकचिद्घनैकरूपपरवस्तुदर्शक एव प्राप्तनिजसुख इति कथयति—

आकाशमिव सर्वं तु सबाह्याभ्यन्तरं प्रिये।
परानन्दमरूपं तु पश्यन्नानन्दभाग् भवेत्।।२९।।

प्रिये, सर्वं तु घटमठाद्यनेकवस्तुनि आकाशमिव आकाशं यथा व्याप्यावतिष्ठते तथा सबाह्याभ्यन्तरं कलादिषडध्वबहिरङ्गान्तरङ्गैः सह युक्तं परानन्दं बैन्दवानन्दव्यतिरिक्तपरानन्दरूपम् अरूपं तु नादबिन्द्वादिरूपरहितत्वेन स्थितं परमशिवं पश्यन् चैतन्यं दृष्ट्वा अपरोक्षीकृतः स आनन्दभाक् परानन्दभोक्ता भवति ।।२९।।

"पाशजाल के स्वरूप का परित्याग कर अपने स्वरूप को देखना ही आत्मव्याप्ति कहलाती है, शिवव्याप्ति इससे भिन्न प्रकार की है" इस शास्त्रवचन के अनुसार तत्त्व एवं उनसे उत्पन्न पदार्थों का अवलोकन मनुष्य की अधोमुख (बाह्य) वृत्ति मानी जाती है। इससे ऊपर उठने पर अपने निज स्वरूप की प्राप्ति हो जाने से उत्पन्न शुद्ध संवित् के सहारे निरुपाधिक चिद्धन स्वरूप परमशिव पद को देखने वाला ही निजसुख को प्राप्त करने में समर्थ है—

हे प्रिये! इस जगत् में सर्वत्र बाहर-भीतर जैसे आकाश की ही व्याप्ति है, उसी तरह से सर्वत्र रूपरहित आनन्द-स्वरूप को देखने वाला साधक सदा आनन्द से परिपूर्ण बना रहता है।।२९।।

हे प्रिये! घट, मठ आदि वस्तुओं में जैसे सर्वत्र आकाश व्याप्त है, उसी तरह से कला आदि षडध्वात्मक बाह्य और आभ्यन्तर जगत् में बैन्दवानन्द से अतिरिक्त, अर्थात् श्रेष्ठ, परमानन्द-स्वरूप एवं नाद, बिन्दु आदि स्वरूपों से रहित परमशिव को देखने वाला, अर्थात् निर्मल, निष्कल संविदात्मक स्वरूप का सर्वत्र साक्षात्कार करने वाला साधक ही परमशिव के आनन्दमय स्वरूप का उपभोग करने में समर्थ हो सकता है।।२९।।

निरालम्बात्मकसंविदनुसन्धानेन मनोनाशं दृष्टान्तपुरस्सरं समर्थयति—

निरिन्धनो यथा वह्निः स्वयमेव प्रशाम्यति।
ग्राह्याभावान्मनस्तद्वत् स्वयमेव प्रलीयते।।३०।।

निरिन्धने दह्यमानकाष्ठाभावे वह्निरग्निः अङ्गारावस्थो यथा स्वयमेव नाशकहेतुभूतसलिलाद्यभावेऽपीत्यर्थः, प्रशाम्यति नश्यति, स्वाश्रयस्वनाशकरूपप्रकर्षतः

शमनं यातीत्यर्थः। तद्वद् मनः चित्तं ग्राह्याभावाद् ग्राह्याणां ग्रहीतुं योग्यानां वस्तूनाम् अभावादलाभात्, स्वयमेव विलीयते विशेषेण लयीभवेत्। ''काष्ठप्रवर्तितो वह्निः काष्ठेन सह शाम्यति। नादप्रवर्तितं चित्तं नादेन सह शाम्यति।।'' इत्युक्तग्रन्थानुसारतो नादेन सह मनोनाशः कार्य इत्यर्थः।।३०।।

निरालम्ब संवित्स्वरूप का साक्षात्कार करने वाले योगी के मन का विलय हो जाता है, इस विषय को दृष्टान्त के साथ समझाते हैं—

जैसे प्रज्वलित अग्नि को इन्धन न मिलने पर वह स्वयं ही शान्त हो जाती है, उसी तरह से ग्राह्य विषय के न रहने पर मन भी स्वयं ही विलीन हो जाता है।।३०।।

काष्ठ आदि के जलते रहने से अग्नि धधकते हुए अंगारे के रूप में दिखाई पड़ती है, किन्तु जब इन्धन खत्म हो जाती है, तो अग्नि को बुझाने के साधन जल आदि के अभाव में भी वह अपने आप बुझ जाती है; जिसके सहारे यह जलती है, उसका पूरी तरह से नाश हो जाने पर वह स्वयं भी शान्त हो जाती है। उसी तरह यह मन भी जिनके सहारे जीवित रहता है, उन ग्राह्य, ग्रहण करने योग्य वस्तुओं के न मिलने पर स्वयं अपने आप विलीन हो जाता है। ''काष्ठ की सहायता से प्रज्वलित हुआ वह्नि जैसे काष्ठ के नाश के साथ ही बुझ जाता है, उसी तरह से नाद की सहायता से सचेष्ट हुआ मन नाद के साथ ही शान्त हो जाता है'' इस शास्त्रवचन के अनुसार नाद के शान्त हो जाने पर मन का भी विलय हो जाता है।।३०।।

अनाद्यविद्यासंबन्धात्मकबोधानभिव्यक्तितो मायाजन्यगुणजयात्मकसुषुप्त्याद्यवस्थासमुदायानां विलक्षणो भूत्वा वर्तितुं युज्यत इति कथ्यते—

मोहिका मूर्च्छिका माया स्वप्नश्चेति चतुर्विधः।
सुषुप्तिर्जागृतिश्चैव सर्वमेतत् परित्यजेत्।।३१।।

मोहिका शुद्धाशुद्धभोगासक्तिहेतुत्वेन स्थिता, मूर्च्छिका आत्मचैतन्यरोधकत्वाद् विषयमूर्च्छाकारकारिणीत्वेन स्थिता मलशक्तिश्च, माया अनात्मरूपभूतमनोबुद्ध्यहङ्कारदेहादिष्वात्मधर्मारोपिणी भूता आत्मन्यनात्मभूतदेहकारणानां जननमरणसुखदुःखादिजडधर्मारोपिणी भूता माया च, स्वप्नश्च अनुभूतार्थस्मरणरूपान्तःकरणव्यापाररूपभूतस्वप्नश्च, इत्युक्तश्चतुर्विधः चतुष्प्रकारश्च, सुषप्तिः तमोगुणतिरोहितमनोरूपभूता सुषुप्तिश्च, जागृतिश्च श्रोत्रादीन्द्रियद्वारा विकीर्णमनोऽवधिरूपभूता जागृतिश्च,एवेति शब्देनेत्युक्त इत्यर्थः। एतत्सर्वमिदं समस्तं परित्यजेद् विसर्जयेत्।।३१।।

अनादि काल से चली आई अविद्या के संबन्ध से जीवात्मा में शुद्ध बोध की अभिव्यक्ति नहीं होने पाती। इस स्थिति में भी साधक को चाहिये कि माया से उत्पन्न गुणों पर विजय प्राप्त कर लेने वाली सुषुप्ति आदि बोध-शून्य स्थितियों से दूर रहने के लिये निरन्तर सचेष्ट रहे—

मोहिका, मूर्च्छिका, माया और स्वप्न – ये चारों एक प्रकार से सुषुप्ति की ही स्थितियाँ हैं। इस चतुर्विध सुषुप्ति अवस्था के साथ जाग्रत् अवस्था के भी सारे अनुभवों का साधक को त्याग कर देना चाहिये।।३१।।

सुषुप्ति की **मोहिका** नामक अवस्था हमारे भीतर शुद्ध एवं अशुद्ध भोगों के प्रति आसक्ति, अनुराग को जगाती है। **मूर्च्छिका** अवस्था विषयों के उपभोग के समय हमें मूर्छित सा कर देती है, जिससे हम कुछ भी समझ नहीं पाते। **माया** मल की वह शक्ति है, जिसके कारण हम अपनी आत्मा से भिन्न मन, बुद्धि, अहंकार, देह आदि को ही आत्मा मानकर उसमें आत्मा से भिन्न देह के कारण होने वाले जनन, मरण, सुख, दुःख आदि जड़ पदार्थों के धर्मों को आरोपित कर लेते हैं। **स्वप्न** वह वृत्ति है, जिसके कारण हम जाग्रदवस्था में अनुभूत पदार्थों की स्मृतिरूप अन्तःकरण की वृत्ति की सहायता से नाना प्रकार के स्वप्नों को देखते हैं। इस तरह से ये चारों वृत्तियाँ सुषुप्ति के नाम से जानी जाती हैं। इन सभी स्थितियों में तमोगुण के कारण मन का स्वरूप तिरोहित हो जाता है। जाग्रत् अवस्था में स्थिति भिन्न होती है। यहाँ श्रोत्र आदि इन्द्रियों के कारण मन इधर-उधर दौड़ता रहता है। अतः इन सब स्थितियों का परित्याग ही साधक के लिये उचित है।।३१।।

निर्विकल्पावस्थाचलितचैतन्यप्रवृत्तिनिवृत्तिपरम्परासोपाधिकभूतशरीरादिभिन्नतापरोक्षकारणेन पूर्वोदितावस्थावलोकनपुरस्सरं स्वस्वरूपनिश्चयो भवेदिति कथयति—

देहात् सूक्ष्मगतात् प्राणात् चित्ताद् बुद्धेरहङ्कृतेः ।
सर्वस्मात् भिन्न एवाहं चिन्तयन् लभते चित(ति)म् ।।३२।।

देहाद् भुवनजशरीरात् सूक्ष्मगतात् सूक्ष्मयुक्तात् प्राणात् मनश्चञ्चलभूतप्राणात् चित्तादक्षार्थसंकल्पकारिणो मनसश्च बुद्धेस्तु कल्पितार्थनिश्चयहेतुभूताया बुद्धेश्च अहङ्कृतेः विषयनिश्चयात्मकभोग्यरूपबुद्धिभोगार्थभूतग्राहकाध्यवसायसाधनहेतुभूताहङ्कारतश्च सर्वस्मात् समस्ततत्त्वात् तात्त्विकसमूहाच्च भिन्न एव विविक्तः सन् चिन्तयन् स्मृतिव्यतिरिक्तज्ञानस्य विलक्षणभूतोऽयं साधकः चित्तं(तिं) ज्ञानक्रियात्मकं शिवतत्त्वं लभते प्राप्नुते। मद्देहमत्प्राणमच्चित्तमद्बुद्धिमदहङ्कृत्यादिसकलविकल्पानुस्यूतमदंशताशून्येन चिद्विवेको(की) भवतीत्यर्थः।।३२।।

अब यहाँ बताया जा रहा है कि निर्विकल्प अवस्था से चलित हो जाने के कारण चैतन्य प्रवृत्ति और निवृत्ति के जाल में फँस जाता है। इसका कारण शरीर की उपाधि को ओढ लेना है। जब साधक अपनी आत्मा के निरुपाधिक स्वरूप का साक्षात्कार कर लेता है और उसके कारण उसकी पूर्व की पारमार्थिक अवस्था का उदय हो जाता है, तब वह अपने वास्तविक स्वरूप को जानने में समर्थ हो सकता है—

देह से, देह के अन्तर्गत विद्यमान सूक्ष्म प्राण से, चित्त से, बुद्धि से, अहंकार से—इन सबसे मैं भिन्न ही हूँ। इस प्रकार विचार करने वाला साधक भगवान् शिव के चिन्मय स्वरूप को प्राप्त कर लेता है।।३२।।

विभिन्न भुवनों में प्राप्त शरीर से, इसमें सूक्ष्म रूप में विद्यमान प्राण से, मन के समान चंचल प्राण से, इन्द्रिय और विषय के संयोजक मन से, किसी निश्चय तक पहुँचाने वाली बुद्धि से और विषय का निश्चय कर लेने के उपरान्त उसको भोग्य रूप से स्वीकार करने वाली बुद्धि से मैं इसको अपना बनाऊँ, इस तरह के ग्राहक अध्यवसाय के साधन-स्वरूप अहंकार से—इन सब तत्त्वों एवं तात्त्विक पदार्थों से मैं भिन्न ही हूँ, अलग ही हूँ, इस प्रकार के स्मृति से भिन्न ज्ञान से भी विलक्षण स्थिति में पहुँचा हुआ साधक ज्ञान-क्रिया स्वरूप चिति को, शिव तत्त्व को प्राप्त कर लेता है। यह मेरा शरीर है, यह मेरा प्राण है, यह मेरा चित्त है, यह मेरी बुद्धि है, यह मेरी अहंकृति है, इस तरह के समस्त विकल्पों से जुड़े हुए ममकार से शून्य हुआ साधक चिद्विवेकी कहलाता है, अर्थात् इन सबसे पृथक् अपने चिदंश का साक्षात्कार करने में समर्थ हो जाता है।।३२।।

तत्त्वविलक्षणोन्मीलितशुद्धबोधतिरोधायकनिद्राध्यवसितसाधनजागरोन्मज्जनादि-प्रयत्नकृत् स्वस्थो भवेदिति वदति—

सदाभिभूयते चित्तं निद्रया स्मरणादिना।
बोधयित्वा प्रयत्नेन कुर्यात् स्वस्थं पुनः पुनः।।३३।।

चित्तं चैतन्याधिष्ठितं मन इत्यर्थः। सदा आश्रयान्तं निद्रया स्वेतरानभिज्ञानता-रूपसुषुप्त्या च स्मरणादिना अनुभूतार्थस्मरणादिरूपमयचिन्तया च, आदिशब्देन जागरणाद्यवस्थया च अभिभूयते तिरस्क्रियते, अनधिगतार्थगन्तृत्वस्यैव चित्स्वरूपभूतकरणत्वादनुभूतार्थग्रहणस्मरणचैतन्यस्यान्यथाऽध्यासद्वारा तिरोधाय-कत्वादविद्यासदृशाकारकत्वं न भवतीत्यर्थः। एततिरस्कारगतचित्तं प्रयत्नेन जागरोन्मज्ज-नाद्यनुसंधानादिनिर्वृत्ति(ति)रूपप्रत्यक्षव्यापारेण बोधयित्वा उद्बोध्य पुनः पुनः शान्तं स्वस्थं चलनशून्यं कुर्यात्। अनेन प्रकारेण मनसः स्वस्थतया चिदंशविषयाध्यासो न भवतीत्यर्थः।।३३।।

योगी के प्रयत्न से तत्त्व और तात्त्विक ज्ञान से विलक्षण शुद्ध बोध का उन्मीलन हो जाने के बाद भी उस शुद्ध बोध की तिरोधायक निद्रा आदि वृत्तियाँ कार्यरत हो जाती हैं। इनकी तरफ से सावधान रहकर जो साधक इनसे ऊपर उठ जाने का प्रयत्न करता रहता है, वही स्वस्थ रह सकता है—

मनुष्य का यह मन निद्रा, स्मरण जैसी वृत्तियों से सदा अभिभूत रहता है। इसको प्रयत्नपूर्वक पुनः पुनः समझा कर सावधान रखना चाहिये।।३३।।

चित्त [३४]शब्द का अर्थ यहाँ चैतन्य से संयुक्त मन है। यह सदा जब तक इसकी लौकिक व्यवहारों के प्रति प्रवृत्ति रहती है, निद्रा से अर्थात् अपने सिवाय किसी को न जानने वाली सुषुप्ति दशा से और पूर्व अनुभूत वस्तु की स्मरण रूप चिन्ता से, इसी तरह से जाग्रदवस्था के विभिन्न अनुभवों से सदा दबा रहता है। अभिप्राय यह है कि अनधिगत, अर्थात् अद्यावधि अप्राप्त वस्तु को प्राप्त कराना ही चित्तस्वरूप इन्द्रियों का कार्य है। पूर्वानुभूत विषय का ग्रहण और स्मरण कराने वाली चैतन्य-वृत्ति अध्यास के द्वारा आरोपित स्वरूप को ग्रहण करने लगती है, उसका मूल स्वरूप तिरोहित हो जाता है, अतः उसका आकार अविद्या सरीखा ही हो जाता है। इस अविद्या से आवृत चित्त को प्रयत्नपूर्वक इन सब दशाओं से ऊपर उठाकर, परम तत्त्व के अनुसन्धान में लगकर उसका साक्षात् दर्शन कराकर बार-बार सावधान करना चाहिये, समझा बुझाकर उसको शान्त करना चाहिये, उसकी चंचलता को दूर करते रहना चाहिये। इस तरह से मन के स्वस्थ हो जाने पर उस योगी के चित्त में, चैतन्य में विषयों का अध्यास नहीं होने पावेगा, उसका चित्त विषयों की ओर नहीं दौड़ेगा।।३३।।

"संश्लिष्टं च स्वलीनं च विक्षिप्तं च गतागतम्। मनश्चतुर्विधं प्रोक्तं तस्य भेदमिदं(मं) शृणु।।" इत्युक्तनिःश्वासकारिकाग्रन्थानुसारतो मन्त्रमननमन्त्राध्यात्मैक-त्रिपुटीरहितान्यरूपभूतगुणातीतभूतता **स्वलीनते**त्युक्त्वा, अनुभूयमानविषयानध्यासित-ज्ञेयनिश्चलात्मकभूतसात्त्विकरूपमेव **संश्लिष्टता**, ज्ञानाज्ञानाकारमयरजोगुणात्मकभूतता **गतागतता**, विषयभोगार्थीभूत्वा कालव्याकुलात्मभूततमोगुणरूपभूतता **विक्षिप्तते**त्युक्त्वा एतेषु उत्तममध्यमाधमाधमाधमा इत्युक्तचतुर्विधमनोव्यापारेषु संश्लिष्टावस्थारूप-भूतमनः स्वलीनावस्थां प्रापयेदिति ग्रन्थद्वयेन समर्थयति—

यदा स्थिरं भवेच्चित्तं चालयन्न कथञ्चन।
न किञ्चिच्चिन्तयेत् तत्र स्थिरमेव तु कारयेत्।।३४।।

---

३४. *"चितिरेव चेतनपदादवरूढा चेत्यसंकोचिनी चित्तम्" प्रत्यभिज्ञाहृदय के इस पाँचवें सूत्र में चित्त शब्द का यही अर्थ निर्दिष्ट है। यहाँ स्पष्ट किया गया है कि चितिशक्ति ही अपने चेतन पद से नीचे उतर कर, अपने स्वरूप का संकोच कर चित्त (मन) का आकार ग्रहण कर लेती है।*

यदा चित्तं मनः स्थिरं भवेत् स्थैर्यं याति, तस्मिन् समये कथञ्चन केनापि प्रकारेण कदाचिदपि न चालयन् चालितुं योग्यं न भवति, तत्र मनःस्थिरत्वकाले किञ्चिद् मन्त्रभुवनविग्रहबिन्द्वादिध्येयरूपाणि न चिन्तयेद् न ध्यायेत्, स्थिरमेव निश्चलमेव कारयेत् कुर्यात्।।३४।।

निश्वासकारिका के एक वचन में मन की संश्लिष्ट, स्वलीन, विक्षिप्त एवं गतागत नामक चार दशाओं का वर्णन किया गया है। इनमें मन्त्र, मनन और मन्त्रचैतन्य रूप त्रिपुटी से रहित अद्वय गुणातीत रूपता ही **स्वलीनता** कहलाती है। अनुभूयमान विषय से अनभिभूत ज्ञेय का निश्चलात्मक सात्त्विक स्वरूप ही मन की **संश्लिष्टता** है। ज्ञान और अज्ञान के बीच दौड़ रही मन की रजोगुणमय स्थिति **गतागतता** कहलाती है और विषयभोग की तरफ दौड़ रही काल के थपेड़ों से व्याकुल मन की तमोमयी स्थिति **विक्षिप्तता** कही गई है। मन की ये स्थितियाँ क्रमश: उत्तम, मध्यम, अधम और अधमाधम कहलाती हैं। मन के इन चतुर्विध व्यापारों में से संश्लिष्टावस्था-स्वरूप मन को स्वलीनावस्था में पहुँचाने का प्रयत्न करना चाहिये। अगले दो श्लोकों में यही विषय प्रतिपादित है—

जब चित्त स्थिर हो जाय, तब उसे किसी भी तरह से चलित न होने दे। इसके लिये यह आवश्यक है कि मन को सभी प्रकार की चिन्ताओं से मुक्त कर उसे पूरी तरह से स्थिर कर दे।।३४।।

जब चित्त स्थिरता को प्राप्त कर ले, उस समय किसी भी तरह से कभी भी वह पुनः चलित न हो, मन की उस स्थिरता के समय [३५]मन्त्र, भुवन, विग्रह, बिन्दु आदि ध्येय रूपों का भी ध्यान न करे। बिना किसी का ध्यान किये मन की स्थिरता के लिये सदा प्रयत्नशील रहे।।३४।।

आश्रयालम्बनं चित्तं तद्वत् कुर्यान्निराश्रयम्।
चञ्चलं निश्चलं कुर्याद् निश्चलं न तु चालयेत्।।३५।।

आश्रयालम्बनम् आश्रयो बैन्दवमायेयानेकवस्तुरूपमाश्रयमालम्बत इत्याश्रयालम्बनं चित्तं तद्वत् तथैव आश्रयादर्थान्तरेषु चलनवदित्यर्थः, निराश्रयं निरालम्बं कुर्यात् कारयेत्। पूर्वग्रन्थप्रतिपादितमर्थं क्रोडीकृत्य कथयति—चञ्चलं चलनभूतं मनः, निश्चलमचलं कुर्यात्, निश्चलं निश्चलीभूतं मनः, नैव चालयेत् चालयितुं योग्यं न भवेत्।।३५।।

---

३५. *"भुवनं विग्रहो ज्योतिः खं शब्दो मन्त्र एव च। बिन्दुनादादिसंभिन्नः षड्विधः शिव उच्यते।।"* *(१.६३) तन्त्रालोक के इस वचन में शिव के षड्विध ध्येय रूपों की चर्चा की गई है।*

मन सदा किसी आश्रय का सहारा खोजता रहता है। उसके विपरीत योगी को सदा मन को निराश्रय करने का प्रयत्न करते रहना चाहिये। वह चंचल मन को निश्चल बनावे और उसके निश्चल हो जाने पर पुनः उसे चंचलता की ओर नहीं बढ़ने देना चाहिये।।३५।।

चित्त, मनुष्य का मन बिन्दु (महामाया) अथवा माया से निर्मित नाना प्रकार की वस्तुओं का सहारा खोजता रहता है। यह जैसे सदा इधर-उधर दौड़ता रहता है, उसी तरह से योगी को भी चाहिये कि [३६]वह जिस तरफ दौड़ता है, उसे वहाँ से हटाकर बिना आश्रय का बना दे। इस पूरे प्रकरण का सार यह है कि पहले चंचल मन को स्थिर बनाने का प्रयत्न करे और बाद में स्थिर हुए इस चित्त को पुनः चंचलता की ओर न बढ़ने दे, ऐसा प्रयत्न करे कि वह सर्वथा निराश्रय हो जाय, चित्स्वरूप में प्रतिष्ठित हो जाय।।३५।।

मनोनिश्चलतया निरालम्बे सत्यभिव्यक्ति(क्ती)भूतनिर्मलाकाश एव पाशानामूर्ध्वभावी भूतात्मनः स्वरूपमिति कथ्यते—

सर्वभूतलये जाते यद्यद् व्योम सुनिर्मलम्।
तत्तद्रूपं स्वकं ध्यायेद् व्याप्तं चैव तु निर्मलम्।।३६।।

सर्वभूतलये सर्वेषां भूतशब्देनोपलक्षिततत्त्वतात्त्विकानां लये व्यवहारनाशे जाते, पूर्वोक्तसाधकचैतन्यस्य यद्यत् सुनिर्मलं परनिर्मूलभूतं व्योम आकाशमस्ति, तत्तद्रूपं तत्तदाकाशरूपं व्याप्तं चैव सर्वगतं च सुनिर्मलम् अत्यन्तनिर्मलं स्वकं स्वसंबन्धिरूपं ध्यायेत्। "अत्र पाशोपरि ह्यात्मा व्योमवस्तु(त्तु) सुनिर्मलः। शिवतत्त्वगुणामोदात् शिवधर्मावलोकनः।।" इति **स्वतन्त्रागमोक्तग्रन्थानुसारेण** आत्मस्वरूपलाभत उपरि शिवतत्त्वमेव जानातीत्यर्थः।।३६।।

मन के निश्चल हो जाने पर जब वह आश्रयशून्य हो जाता है, तब निर्मल आकाश के सदृश अभिव्यक्त निर्मल ज्ञान ही त्रिविध अथवा पंचविध पाशों का नाश कर इनके ऊपर विद्यमान स्वात्मस्वरूप को प्रकट करता है—

सभी तत्त्व-तात्त्विक पदार्थों का विलय हो जाने पर सब कुछ निर्मल आकाश के समान निर्मल ज्ञानस्वरूप में ही भासित होने लगता है। यह सब कुछ अपना ही स्वरूप है, इस तरह से जो योगी ध्यान में निरत हो जाता है, उसका अत्यन्त निर्मल स्वरूप अपने आप प्रकट हो जाता है।।३६।।

---

३६. यतो यतो निश्चरति मनश्चञ्चलमस्थिरम्। ततस्ततो नियम्यैतदात्मन्येव वशं नयेत्।।" (६.२६) भगवद्गीता के इस वचन में भी यही कहा गया है।

भूत शब्द से उपलक्षित होने वाले सभी तत्त्वों और उनमें विद्यमान [३७]भुवन, विग्रह, भोग आदि का व्यावहारिक नाश हो जाने पर ऊपर वर्णित लक्षण वाले साधक के लिये इस संसार की समस्त वस्तुएँ परम निर्मल आकाश के समान सुनिर्मल ज्ञानस्वरूप प्रतीत होने लगती हैं। ऐसा योगी इन समस्त जागतिक पदार्थों की अपने निर्मल ज्ञानमय स्वरूप में ही भावना करता है। इस स्थिति में अपने स्वरूप का ज्ञान हो जाने से अपने शिवस्वरूप को जानने के लिये उसके सामने कोई बाधा नहीं रह जाती। स्वतन्त्रागम के इस वचन में यही बात कही गई है—''इस स्थिति में पाशों से मुक्त हुआ यह आत्मा निर्मल ज्ञानाकाश में प्रतिष्ठित हो जाता है। तब शिवतत्त्व में स्थित गुणों से सुवासित यह निर्मल आत्मा स्वयं भी शिव के सर्वज्ञत्व आदि धर्मों का आश्रय बन जाता है''।।३६।।

अस्य निर्मलत्वस्य प्राप्ते: साधनभूतमनोनिश्चलतां प्राप्त एवं(व) कृतार्थ इति कथ्यते—

तदेव जन्मसाफल्यं पाण्डित्यमिदमेव हि ।
चलद्वायुसमं चित्तं निश्चलं ध्रियते हि यत् ।।३७।।

तदेव जन्म साफल्यं जन्मन उत्पत्ते: साफल्यं सफलत्वं परशिवकृतानन्तमहा-सृष्ट्यवान्तरसृष्टिरूपे भूतमिदं जन्मैव सफलमित्यर्थ:। इदमेव हि एतदेव पाण्डित्यं सामर्थ्यं वेदवेदान्तपुराणेतिहासविद्याभ्यासजनितपण्डितत्वत एतदेव सामर्थ्यमित्यर्थ:। चलद्वायुसमं चलितप्राणवायुना सह समं चित्तं मनो निश्चलम् अचञ्चलं ध्रियते हि धार्यते हि, हि प्रसिद्धे, इति यत् तदेवेत्यर्थ:।।३७।।

इस निर्मल आत्मस्वरूप की प्राप्ति का साधन निश्चल मन है। इस मन के निश्चल हो जाने पर साधक कृतार्थ हो जाता है—

जन्म की सफलता इसीमें है, यही समझदारी की बात है कि मनुष्य बहते हुए पवन के समान सतत चंचल मन को स्थिर करने में समर्थ हो जाय।।३७।।

परशिव के द्वारा संपादित अनन्त महासृष्टियों और अवान्तर सृष्टियों के बीच उसीका जन्म लेना सफल माना जायगा; वेद, वेदान्त, पुराण, इतिहास आदि विद्याओं के अभ्यास से प्राप्त हुए पांडित्य का यही सही उपयोग माना जायगा कि वह साधक योगी शरीर के भीतर बेलगाम दौड़ रहे प्राणवायु के साथ अपने चंचल मन को भी स्थिर बनाने में समर्थ हो जाय। **हि** शब्द का प्रयोग यहाँ प्रसिद्धि के अर्थ में हुआ है, अर्थात् यह बात प्रसिद्ध ही है कि उसीका जन्म सफल माना जायगा।।३७।।

---

३७. ऊपर की सातवीं और ३० वीं टिप्पणियाँ देखिये।

मानसं योगसाधनादूर्ध्वाधोगतिषु न धारयित्वा निरालम्बमेव कारयेदिति कथयति—

नैवोर्ध्वं धारयेच्चित्तं न मध्यं नाप्यधः क्वचित् ।
अन्तर्भावविनिर्मुक्तं सदा कुर्यान्निराश्रयम् ।।३८।।

चित्तं मनः, ऊर्ध्वं पश्चिमद्वारगमनत ऊर्ध्वमुखं न धारयेत्, मध्यमाज्ञादिचक्रेषु प्रयातुं मध्यं न धारयेत्, अधः कुण्डलिनीजालनाडीनिमित्ततः क्वचिदपि न धारयेत्, अन्तः अन्तरे भावविनिर्मुक्तं भावत आकाराद्यभिव्यञ्जकबुद्धिधर्मतो विनिर्मुक्तं विशेषेण वर्जितं निराश्रयम् आश्रयरहितं सदा सन्ततं कुर्यात् कारयेत्।।३८।।

योगाभ्यास की प्रक्रिया से चित्त को ऊर्ध्वभाग या अधोभाग में स्थापित न कर उसे निरालम्ब स्थिति में पहुँचा देना चाहिये—

साधक को चाहिये कि वह चित्त को ऊर्ध्वभाग में, मध्यभाग में अथवा अधोभाग में कहीं भी स्थापित न करे। उसके लिये तो यह आवश्यक है कि वह मन को उसकी संकल्प-विकल्पात्मक आन्तरिक वृत्तियों से मुक्त करा उसे निराश्रय बना दे।।३८।।

योगी को चाहिये कि वह कुण्डलिनी शक्ति के सहारे प्राण और मन की गति को ऊर्ध्वोन्मुख करने का प्रयत्न न करे, वह उनको मध्यवर्ती स्थान आज्ञाचक्र आदि में भी स्थापित करने का प्रयत्न न करे और न अधोवर्ती कुण्डलिनी स्थान में स्थित नाडीजाल में ही उसे विश्राम करने दे। ऐसा कुछ भी न कर उसे चाहिये कि वह उस मन को भीतर की नाना प्रकार की आकृतियों के उत्पाद-विनाश में सदा लगी रहने वाली बुद्धि की वृत्तियों से पूरी तरह से मुक्त कर उसे आश्रय-शून्य बना दे, उसे सदा-सदा के लिये निरालम्ब स्थिति में पहुँचा दे।।३८।।

"ज्ञानेन श्लिष्यते यस्मादिन्द्रियार्थपरायणः। त्रिकालमाकुलो नित्यं स तु विक्षिप्त उच्यते।।" इत्युक्तविक्षिप्तावस्थायां सुषुप्त्यवस्थायां मध्यगतं ज्ञानं निश्चलं कुर्यादिति वदति—

निद्रायां बोधयेच्चित्तं विक्षिप्तं शमयेत् पुनः ।
पक्षद्वयपरित्यागे संप्राप्ते नैव चालयेत् ।।३९।।

चित्तं मानसं निद्रायां स्वेतरज्ञाननिवृत्ततमोगुणात्मभूतसुषुप्तौ बोधयेत् प्रबुद्धं कुर्यात्, विक्षिप्तं पुनरिन्द्रियद्वारत आकुलीभूतं सततं शमयेत् एकाग्ररूपतो विनिवर्तयेत्, पक्षद्वयपरित्यागे पक्षद्वयात् सुषुप्तिजागृतीत्युक्तोभयपक्षतः परित्यागे

संप्राप्ते मनसि निराश्रयभूते सति, नैव चालयेत् तयावस्थया न चलितुं युज्यते, कारणवर्गैः सह ज्ञायमाने सविकल्पो भवेद् अन्तर्हिते सति अज्ञानं स्यात्, तस्मात् कारणाद् उभयावस्थाव्यतिरिक्तनिर्विकल्पस्वरूपो भूत्वाऽवस्थितं(तः) स्यादित्यर्थः।।३९।।

"कोरे ज्ञान से व्यक्ति इन्द्रियों को विषय-परायण होने से रोक नहीं सकता। वह तो सदा तीनों कालों में व्याकुल रहता है" शास्त्रों में ऐसे व्यक्ति को विक्षिप्त बताया गया है। यह विक्षिप्तावस्था भी एक प्रकार की सुषुप्ति की ही स्थिति है। ऐसी स्थिति में पहुँचे हुए ज्ञान को भी इस स्थिति से बाहर लाने का प्रयत्न करना चाहिये—

निद्रा की स्थिति में पहुँचे हुए चित्त को जगाने का प्रयत्न करना चाहिये, विक्षिप्त अवस्था में पड़े हुए चित्त को इस स्थिति से बाहर लाने का उपाय करना चाहिये। मन के इन दोनों ही स्थितियों से बाहर आ जाने पर उसे वहीं स्थापित कर देना चाहिये, फिर उसे वहाँ से हटाना नहीं चाहिये।।३९।।

निद्रावस्था में, अर्थात् अपने से भिन्न समस्त ज्ञान के तमोगुण स्वरूप सुषुप्ति दशा की स्थिति में पहुँच जाने पर उसे सदा जगाने का प्रयत्न करते रहना चाहिये। विक्षिप्त, अर्थात् इन्द्रियों के द्वारा पागल की सी स्थिति में मन के पहुँचाये जाने पर उस व्याकुल चित्त को शान्त, एकाग्रता में लीन करने की कोशिश करनी चाहिये। इन दोनों पक्षों को, अर्थात् सुषुप्ति की और जाग्रत् अवस्था की विक्षिप्तता को छोड़ चुके आश्रयशून्य मन को फिर उस अवस्था से हटने न दे, अर्थात् उसी आश्रयरहित स्थिति में तल्लीन हो जाने दे। इसका कारण यह है कि करणग्राम (इन्द्रियों) की प्रवृत्ति रहने पर वह विकल्पों से घिर जायगा और इनके पूरी तरह से अन्तर्हित हो जाने पर वह अज्ञान के अन्धकार में डूब जायगा। अतः साधक योगी को चाहिये कि इन दोनों ही अवस्थाओं से परे अपने निर्विकल्प स्वरूप में सदा स्थिर रहने का प्रयत्न करे।।३९।।

"न मनो नापि मन्तव्यो न मन्ता च विभाव्यते। स्वलीनो विषयैर्मुक्त एकीभूतः सुषुप्तिवत्।।" इत्युक्तग्रन्थानुसारतो गुणातीतमनःस्वलीनतारूपावस्था एव मोक्षस्वरूपसाधनमिति ग्रन्थद्वयेन प्रतिपादयति—

निराश्रयं सदा चित्तं सर्वालम्बनवर्जितम्।
मनोऽवस्थाविनिर्मुक्तं विज्ञेयं मुक्तिलक्षणम्।।४०।।

सदा जाग्रदवस्थामयसमस्तकार्येषु निराश्रयं करणविषयादिष्वध्यासितरहितत्वाद् बाह्यान्तराश्रयाभावेन स्थितं सर्वालम्बनवर्जितं सर्वं समस्तमालम्बनं बिन्दुनादाद्याभ्यन्तरा-लम्बनं तस्माद् वर्जितं विलक्षणं मनोऽवस्थाविनिर्मुक्तं विशेषेण विश्लिष्टं चित्तं चित्तशब्दोपलक्षितचैतन्यमेव मुक्तिलक्षणं मोक्षस्वरूपमिति विज्ञेयं विशेषेण निश्चयत्वेन ज्ञेयम्।।४०।।

शास्त्र में बताया गया है कि मन की, मन्तव्य विषय की और मनन करने वाले की कोई वास्तविक स्थिति नहीं है। जब यह विषयों से मुक्त होकर अपने में लीन हो जाता है, तो उस समय सुषुप्ति की स्थिति के समान ये सब व्यवहार एकाकार हो जाते हैं। इसके अनुसार गुणों से अतीत मन की अपने स्वरूप में लीन हो जाने की स्थिति ही मोक्ष की प्राप्ति का श्रेष्ठ उपाय है। इसी विषय का प्रतिपादन अगले दो श्लोकों में किया जा रहा है—

जब चित्त सदा आश्रयशून्य रहता है, सभी आलम्बनों की वर्जना कर देता है, मन की सभी अवस्थाओं से मुक्त हो जाता है, तो इसीको मुक्ति का लक्षण मानना चाहिये।।४०।।

जाग्रदवस्था के सभी कार्यों में सदा इन्द्रिय, विषय आदि के अध्यास से रहित होने के कारण जो बाह्य अथवा आन्तर आश्रयों की स्थिति के न रहने से निराश्रय हो गया है, अत एव जो समस्त बिन्दु, नाद जैसे सूक्ष्मतम आन्तर आलम्बनों से भी शून्य हो गया है, अर्थात् इन सबसे जिसकी विलक्षण क्षिति हो गई है, जो मन की समस्त अवस्थाओं से अलग हो गया है, ऐसा चित्त शब्द से उपलक्षित होने वाला चैतन्य ही मुक्ति का स्वरूप माना जाता है, अर्थात् वह पूरी तरह से निश्चयपूर्वक मोक्ष को प्राप्त कर लेता है।।४०।।

सर्वालम्बनशून्यं च धारयित्वा मनो हृदि।
यद् ज्ञानं जायते स्पष्टं तदभ्यासपरो भवेत्।।४१।।

सर्वालम्बनशून्यम् आलम्बनमाश्रयः सर्वं च तद् आलम्बनं च सर्वालम्बनम्, सर्वालम्बनशून्यं निर्विकल्पं मनश्च हृदि हृदये धारयित्वा अनया धारणया यद् ज्ञानं निजचैतन्यं स्पष्टं व्यक्तं जायतेऽभिव्यक्तिमुपयाति, तदभ्यासपरः तस्य चैतन्यस्य अभ्यासः अनुसन्धानरूपम्, तस्मिन् परस्तत्परो भवेद् मनोनिश्चलोत्तरभाविनिर्विकल्प-संविदनुसन्धाननिष्ठो भवेदित्यर्थः।।४१।।

सभी आलम्बनों से रहित मन को हृदय में स्थापित कर लेने पर जो ज्ञान स्पष्ट रूप से भासित होता है, योगी को उसीके अभ्यास में लग जाना चाहिये।।४१।।

आलम्बन का अर्थ है सहारा, सभी प्रकार के आलम्बनों से जो शून्य हो गया है, उस निर्विकल्पक, निर्विषयक मन को हृदय में इस अभिप्राय से स्थिर कर देना चाहिये कि इसके एकाग्र हो जाने से अपना स्वाभाविक चैतन्य स्पष्ट रूप से प्रकट हो जाता है। इस चैतन्य का निरन्तर अनुसन्धान करते रहने से अन्ततः मन उसीमें लीन हो जाता है और तब मन के निश्चल हो जाने से उसके बाद प्राप्त होने वाली निर्विकल्पक शुद्ध संवित् में साधक प्रतिष्ठित हो जाता है।।४१।।

पूर्वोक्तनिर्विकल्पकचैतन्येन निष्कलवस्तुध्यानतत्परस्य परसायुज्यप्राप्तिर्भवेदिति कथयति—

ये ध्यायन्ति परं शून्यं निष्कलं निरवस्थितम्।
ते यान्ति परमं स्थानं जन्ममृत्युविवर्जितम्।।४२।।

परं स्वशक्तिव्यापारान्तर्भूतचेतनाचेतनवस्तुसमूहस्य उत्तरभूतं शून्यं चिदाकाशरूपं शशविषाणगगनकुसुमादिवत् त्रैकाल्याभावरूपशून्यं न भवतीत्यर्थः। निष्कलम् अष्टत्रिंशत्कलारहितं निरवस्थितं प्रवृत्त्या(त्ता)द्यवस्थारहितं ये केचित् सलिलपवित्रितात्मानो ध्यायन्ति चैतन्ययोजनमात्ररूपध्यानेन ध्यायन्ति, ते जीवन्त एव मुक्ता जन्ममृत्युविवर्जितम् इच्छानुष्ठानतः समुत्पद्यमानयोः पुण्यपापयोः फलभूतसृष्टिसंहाराभ्यां परित्यक्तं परमं सृष्टिसंहारान्तर्भूतमन्त्रमन्त्रेश्वरादिप्राप्यस्थानानामुत्तरभूतं स्थानं परमशिवसायुज्यपदं यान्ति।।४२।।

अब बताते हैं कि इस निर्विकल्पक चैतन्य की शुद्ध अवस्था में निष्कल परमशिव के ध्यान में लगा योगी परम सायुज्य को प्राप्त कर लेने में समर्थ हो जाता है—

जो साधक परम शून्य, निष्कल, सभी प्रवृत्तियों से रहित तत्त्व का ध्यान करते हैं, वे जन्म एवं मृत्यु से रहित परम स्थान को प्राप्त कर लेते हैं।।४२।।

पर शब्द का अर्थ यहाँ अपनी शक्ति के व्यापार के अन्तर्गत विद्यमान समस्त चेतन-अचेतन वस्तुओं के ऊपर विद्यमान परम तत्त्व है। इसी तरह से **शून्य** का अर्थ चिदाकाश स्वरूप है, यह शून्य शशविषण और आकाशकुसुम के समान तीनों कालों में अभावात्मक नहीं है। इसी तरह यह परम तत्त्व निष्कल है। शास्त्रों में भगवान् शिव की ३८ कलाएँ वर्णित है[३८]। निष्कल स्थिति में इन कलाओं की कोई स्थिति न रहने से उस परम तत्त्व की सारी प्रवृत्तियाँ शान्त रहती हैं। जो साधक स्नान-पूजा आदि से पवित्र होकर परम तत्त्व के इस चिन्मय स्वरूप का ध्यान करते हैं, वे इसी जीवन में जीवन्मुक्ति को प्राप्त कर जन्म-मृत्यु के चक्कर से बाहर निकल कर, अर्थात् उस स्थिति में फलभोग की इच्छा के न रहने से उसके द्वारा किये जा रहे पुण्य और पाप कर्म की फलदान की सामर्थ्य के समाप्त हो जाने के कारण सृष्टि-संहार की प्रक्रिया से बाहर हो जाते हैं। उस स्थिति में वे सृष्टि-संहार व्यापार के अन्तर्गत आने वाले मन्त्र-मन्त्रेश्वर आदि के उत्कृष्ट स्थानों से भी ऊपर विद्यमान परम शिव सायुज्य पदवी को प्राप्त करने में समर्थ हो जाते हैं।।४२।।

---

३८. पंचब्रह्म-मन्त्रों एवं उनकी ३८ कलाओं की चर्चा अनेक स्थलों पर मिलती है। ३८ कलाओं के न्यास का सुस्पष्ट स्वरूप सिद्धान्तसारावलि (पृ. ११७-१२०) में देखा जा सकता है।

परसायुज्यगमनोन्मुखस्य बन्धनकारणानि सालम्बनानि कथयति—

देवा देव्यस्तथा चान्ये धर्माधर्मौ च तत्फलम्।
आश्रयाश्रयिविज्ञानं संसारस्य च बन्धनम्।।४३।।

देवाः सदाशिवमहेश्वरपुरुषरुद्रविष्णुब्रह्मभास्करमहेन्द्राग्न्यादिदेवाश्च, देव्यः क्रमेण मनोन्मनीमायाप्रकृतिरुद्राणीलक्ष्मीब्रह्माणीप्रभावतीशचीस्वाहादेव्यादिदेव्यश्च, तथा चान्ये तदन्यपूर्वोक्तदेवतास्वरूपेभ्यो भिन्नाः, धर्माधर्मौ च तत्र विहितनिषिद्धानुष्ठानतो जाते पुण्यपापे, तत्फलं तयोः पुण्यपापयोः फलं च, आश्रयाश्रयिविज्ञानम् आश्रयः स्वदेहः, आश्रयी देहयुक्तो देही, विज्ञानमहमिति विकल्पज्ञानं च पूर्वजन्मान्तरानुभूत-संसारसाम्येन स्थितसंसारस्य बन्धनम् उत्तरजननबीजरूपभूतबन्धनं भवेदित्यध्याहार्यम्। देवतामूर्तिध्यानपुण्यापुण्यज्ञानदेहदेहिज्ञानरूपभूतसविकल्पजालतयोत्तरोत्तरजननं भवेदित्यर्थः।।४३।।

साधक के इस स्थिति तक पहुँच जाने पर आने वाले विघ्नों की अब चर्चा करते हैं—

देवताओं, देवियों और अन्य गणदेवताओं के साथ उस व्यक्ति के द्वारा संचित पुण्य-पाप रूपी फल और इसी तरह से व्यक्ति में उत्पन्न हुआ देहाभिमान उस साधक के लिये संसार के कारण बन सकते हैं।।४३।।

[३९]सदाशिव, महेश्वर, पुरुष, रुद्र, विष्णु, ब्रह्मा, सूर्य, महेन्द्र, अग्नि आदि देवता और क्रमशः इनकी मनोन्मनी, माया, प्रकृति, रुद्राणी, लक्ष्मी, ब्रह्माणी, प्रभावती, शची, स्वाहा आदि देवियाँ और इनसे भिन्न अन्य गणदेवता; साथ ही व्यक्ति के द्वारा विहित एवं निषिद्ध कर्मों के अनुष्ठान से संचित किये गये पुण्य-पाप रूपी फल के साथ अज्ञानी जीव का आश्रयाश्रयी विज्ञान (यहाँ आश्रय का अर्थ है अपना शरीर और आश्रयी का अर्थ है देहयुक्त देही, अज्ञानी आत्मा तथा विज्ञान का अर्थ है अहमात्मक विकल्प ज्ञान) अपने शरीर को ही आत्मा समझ लेता है। इस तरह से शुद्ध संवित् की प्राप्ति के उपरान्त भी यदि योगी सावधानी छोड़ देता है, तो ये सब मिलकर उसको पुनः सांसारिक बन्धन में डाल देते हैं। पूर्वजन्म में अनुभूत संसार को इस जन्म में भी उसी रूप में देखने वाले के मन में ये सब बन्धन के बीजों को बो देते हैं। इसके कारण वह पुनः बन्धन में पड़ जाता है। इसका अभिप्राय यह है कि ऐसा व्यक्ति विविध देवताओं की मूर्तियों

---

३९. वातुलशुद्धाख्य तन्त्र (७.४-५) में वर्णित षड्विध ब्रह्म और सादाख्य (सदाशिव) तत्त्व का विवेचन सिद्धान्तसारावलि (पृ. ९-११,३०) में देखिये।

के ध्यान में लगे रहने के कारण, पुण्य और पाप की प्रवृत्ति में पड़े रहने से और देह में स्वात्माभिमान को जगा लेने से इन विकल्पात्मक ज्ञानों से घिर जाता है और उसे कभी मुक्ति नहीं मिल पाती। वह उत्तरोत्तर जनन-मरणशील इस संसार में ही घूमता रहता है।।४३।।

निरालम्बयोगज्ञानरूपभूतप्रभावत: प्रारब्धवासनामात्रशेषभूतदेहत्वेऽपि निर्देहीभूतजीवन्मुक्तस्य देहपातानन्तरमेव परमोक्षो भवतीति कथयति—

आश्रयो द्वन्द्वमित्युक्तं द्वन्द्वत्यागात् परोदय:।
जीवन्मुक्तस्तदा योगी देहत्यागाद् विमुच्यते।।४४।।

आश्रयश्चैतन्याधारभूतदेह एव द्वन्द्वमिति देहदेहिरूपसंसार इत्युक्तम्, द्वन्द्वत्यागाद् देहदेहिरूपमयद्वन्द्वस्य त्यागाद् विसर्जनतो निरभिमानतारूपमयपरित्यागत: परोदय: अपुनर्भवरूपभूतपरतत्त्वस्योदय:, परशिवसदृशत्वमस्य भवेदित्यर्थ:। जीवन्मुक्तो देहकारणविषयानध्यासितत्वेन शिवसामरस्यवान् योगी शिवयोगी तदा तदानीं प्रारब्धवासनानि:शेषक्षयत इत्यर्थ:। देहत्यागात् देहस्य अविद्यामूलमायाकारण-जनित(षट्?)त्रिंशत्तत्त्वात्मकभूतसूक्ष्मदेहेन सह पञ्चभूतात्मकभूतस्थूलदेहसमत्यागाद् विरामतो विमुच्यत ऊर्ध्वगशक्तिव्यापारोत्तरोत्तरशिवसायुज्यं प्राप्नोति।।४४।।

इस स्थिति में वह निरालम्ब योग और ज्ञान की सहायता से ही पंच-महाभूतों के प्रभाव से अपने को मुक्त कर सकता है। इस स्थिति में भी प्रारब्ध कर्मों की वासना के बचे रहने से उसका स्थूल शरीर बना रहता है। जब जीवन्मुक्त स्थिति में वह पहुँच जाता है, तब भी परमोक्ष की प्राप्ति उसे देहपात के बाद ही होती है। यही अब बताया जा रहा है—

यह आश्रयभूत शरीर ही संसार कहलाता है। इस देहाभिमान को छोड़ देने पर परम तत्त्व का उदय हो पाता है। इस स्थिति में जीवन्मुक्ति को प्राप्त योगी देहत्याग के बाद मुक्त हो जाता है।।४४।।

इस चैतन्य का आधारभूत यह शरीर ही द्वन्द्व है, अर्थात् देह और देही का संबन्ध ही इस द्वन्द्वात्मक संसार का कारण है। इस द्वन्द्वात्मक देह-देही स्वरूप द्वन्द्व का त्याग कर देने पर, अर्थात् इसके प्रति सभी प्रकार के अभिमान को छोड़ देने पर अपुनर्भव रूप परम तत्त्व का उदय हो जाता है, अर्थात् साधक परशिव के समान हो जाता है। ऐसा जीवन्मुक्त शिवयोगी देह के कारणीभूत विषयों की ओर आकृष्ट न होने से शिव के साथ सामरस्य को प्राप्त कर लेता है, तब उसकी सारी प्रारब्ध कर्म की वासनाएँ भी

क्षीण हो जाती हैं। ऐसी स्थिति में उसकी अविद्या की मूलकारण माया से उत्पन्न हुए [४०]छत्तीस तत्त्वों से बने समस्त भुवनों के सूक्ष्म देहों के साथ पंचभूतात्मक स्थूल शरीरों का भी नाश हो जाने से वह मुक्त हो जाता है, अर्थात् उत्तरोत्तर उत्कृष्ट शक्तियों की सहायता से उत्तरोत्तर उत्कृष्ट स्थिति में पहुँचता हुआ वह अन्त में शिवसायुज्य को प्राप्त कर लेता है।।४४।।

जीवन्मुक्तस्य देहत्यागतः परमोक्षत्वाद् वैराग्यादिप्रयत्नव्यतिरिक्तप्रयत्नगत-शरीरो भवेदिति कथयति—

वैराग्येण वपुस्त्यागो न वै कार्यो मनीषिणा।
आरम्भतः क्रियानाशे स्वयमेव विपत्स्यते।।४५।।

मनीषिणा पूर्वोक्तज्ञानवता विवेकिना वैराग्येण शरीरे विरागेण वपुषः शरीरस्य त्यागो विसर्जनं नैव कार्यं कर्तुं न योग्यम्, हेयबुद्धिवदुपादेयबुद्धिरप्यनया भवेत्। तस्मादुभयविलक्षणभूतोपेक्षारूपेण सह स्थीयतामित्यर्थः। क्रियानाशे क्रियाया हेयोपादेयहानोपादानरूपव्यापारस्य नाशे शून्ये, आरम्भत उद्योगिनस्तस्य स्वयमेव अप्रयत्नतः शरीरं विपत्स्यते नङ्क्ष्यति।।४५।।

जीवन्मुक्त व्यक्ति को देहत्याग के साथ ही परमोक्ष की प्राप्ति हो जाती है, अतः वैराग्य आदि को छोड़कर उसे अन्य ही उपायों का सहारा लेना चाहिये—

बुद्धिमान् व्यक्ति को वैराग्य हो जाने के कारण शरीर का त्याग नहीं करना चाहिये। यदि वह प्रारंभ में ही कर्म का परित्याग कर देगा, तो वह विपत्ति में पड़ सकता है।।४५।।

पूर्व उपदिष्ट ज्ञान से सम्पन्न विवेकी पुरुष को चाहिये कि वह शरीर के प्रति विरक्त होकर शरीर को छोड़ने के लिये कभी उद्यत न हो, क्योंकि हेय बुद्धि के साथ इसके प्रति उपादेय बुद्धि भी जग सकती है। अतः शरीर के प्रति हेय एवं उपादेय बुद्धि का त्याग कर उसके प्रति उपेक्षा का भाव रखना चाहिये। हेय, उपादेय और हान, उपादान जैसे व्यापारों से प्रारंभ से ही दूर रहने वाले उद्योगी पुरुष का वह शरीर बिना प्रयत्न के समय आने पर अपने आप नष्ट हो जायगा।।४५।।

---

४०. माया तत्त्व से आगे कला से लेकर पृथिवी पर्यन्त ३० तत्त्वों से ही समस्त प्राणियों के सूक्ष्मशरीर की निष्पत्ति शास्त्रों में मानी गई है, अतः यहाँ 'त्रिंशत्तत्त्वात्मक' यही पाठ होना चाहिये, न कि 'षट्त्रिंशत्तत्त्वात्मक'।

एवंप्रकारेण परमुक्तजीवन्मुक्तस्वरूपमुक्त्वा परमोक्षनिमित्तभूतदेहत्यागोपायमुक्त्वा शिवदीक्षाभिव्यक्तशिवत्वमुक्तजीवन्मुक्तस्य चैतन्यस्य देहत्यागपर्यन्तं विद्यमानप्रकारं कथयति—

हृत्सरोजे ह्यहंरूपा या चितिर्निर्मलाऽचला।
अहङ्कारपरित्यागात् सा चितिर्मोक्षदायिनी।।४६।।

हृत्सरोजे हृदयकमले, हि प्रसिद्धे, अहंरूपा शिवोऽहमित्युक्तरूपा निर्मला अहङ्कारादिकरणधर्मसम्बन्धरहितत्वेन शुद्धा अचला निर्विकल्परूपभूतकरणत्वाद् अचञ्चला या चितिः चैतन्यमस्ति, सा चितिः तच्चैतन्यम्, अहङ्कारपरित्यागात् अहङ्कारत्वधर्मभूतसुख्यहं दुःख्यहं जीवोऽहमित्युक्तप्राकृतभूतग्राहकाध्यवसायरूपमयाहङ्कारस्य परित्यागाद् विमोक्षतो मोक्षदायिनी परमोक्षं ददाति।।४६।।

इस तरह से जीवन्मुक्त की परमुक्ति के स्वरूप को बताकर और परमोक्ष के निमित्तभूत देहत्याग के उपाय को भी बताकर अब शिव-दीक्षा से अभिव्यक्त शिवत्व से सम्पन्न जीवन्मुक्त चैतन्य को देहत्याग पर्यन्त किस प्रकार जीवन-यापन करना चाहिये, इसकी चर्चा करते हैं—

प्रत्येक मानव के हृदयरूपी कमल में, मैं ही शिव स्वरूप हूँ, इस तरह की जो निर्मल, अचल, संवित् विद्यमान है, वह चितिशक्ति ही अहंकार का परित्याग कर देने पर मोक्षदायिनी बन जाती है।।४६।।

यह बात प्रसिद्ध ही है कि मैं ही शिव हूँ, इस तरह की अहंकार आदि अन्तःकरणों के धर्म से रहित होने से निर्मल, शुद्ध तथा करणों के निर्विकल्प स्थिति में पहुँच जाने के कारण चपलता से रहित जो चिति शक्ति है, वह शुद्ध संवित्-स्वरूप चैतन्य शक्ति ही मैं सुखी हूँ, मैं दुःखी हूँ, मैं जीव हूँ—इस तरह के अस्वाभाविक आहंकारिक अध्यवसायों का परित्याग कर देने पर मोक्ष को प्रदान करने में समर्थ हो जाती है।।४६।।

षडध्वातीतशिवसमरसीभूतजीवन्मुक्तः शिवोऽहं शर्वोऽहमित्युक्तशिवयोगचिन्तया प्रारब्धकर्मजनितभोगेष्वासक्तिं विसर्जयेदिति ग्रन्थद्वयेन प्रतिपादयिष्यति—

सर्वोपाधिविनिर्मुक्तं चिद्रूपं यन्निरन्तरम्।
तच्छिवोऽहमिति ध्यात्वा सर्वासक्तिं विसर्जयेत्।।४७।।

निरन्तरं देशकालाद्यनवच्छिन्नं सर्वोपाधिविनिर्मुक्तं समस्तोपाधिभ्यो नादाद्याश्रयेभ्यो विनिर्मुक्तं विसर्जितं यच्चिद्रूपं ज्ञानरूपमस्ति, तच्छिवोऽहमिति तच्छिवस्वरूपमेवाहमिति ध्यात्वा सर्वासक्तिं सर्वेषु भोगेष्वभिलाषं विशेषेण परित्यजेत्।।४७।।

अब अगले दो श्लोकों में यह बताया जा रहा है कि [४१]षडध्वा से ऊपर विद्यमान परमशिव के साथ समरस हुआ जीवन्मुक्त मैं शिव हूँ, मैं शर्व हूँ—इस तरह के शिवयोग की भावना के सहारे प्रारब्ध कर्म से उत्पन्न होने वाले भोगों के प्रति आसक्ति का परित्याग कर दे—

सभी उपाधियों से रहित जो चिति शक्ति मेरे भीतर निरन्तर प्रवाहित हो रही है, वह शिव का ही स्वरूप है, वही मैं हूँ, इस तरह का ध्यान करते हुए शिवयोगी को सभी आसक्तियों को छोड़ देना चाहिये।।४७।।

निरन्तर अर्थात् देश, काल आदि से अनवच्छिन्न सभी तरह की उपाधियों से, अर्थात् नाद आदि उत्कृष्ट उपाधियों से भी अस्पृष्ट जो चिद्रूप ज्ञान है, वही मेरे भीतर शिव के रूप में प्रतीत हो रहा है। यह शिव का स्वरूप मेरा अपना ही है, इस तरह की भावना करता हुआ शिवयोगी सभी प्रकार की अभिलाषाओं को विशेष रूप से छोड़ दे।।४७।।

देशजात्यादिसम्बद्धान् वर्णाश्रमसमन्वितान् ।
भावानेतान् परित्यज्य स्वभावं भावयेद् बुधः ।।४८।।

देशजात्यादिसंबद्धान् देशैः कश्मीरमगधमालवादिभिः कर्णाटकद्राविडादिभिः, आदिशब्देन गृहक्षेत्रोपवनादिभिश्च सम्बद्धान् संयुक्तान्, वर्णाश्रमसमन्वितान् वर्णैः ब्राह्मणक्षत्रियवैश्यशूद्ररूपैर्वर्णैः, आश्रमैः ब्रह्मचर्यगार्हस्थ्यवानप्रस्थभिक्षुस्वरूपैराश्रमैश्च समन्वितान् संयुक्तान् पुरोवर्तिलौकिकेषु दृश्यमानान् भावान् मद्देश इति मज्जातिरिति ब्राह्मणोऽहं गृहस्थोऽहमिति पूर्वपुण्यपापानुसारतो बुद्धौ कल्पितान् भावान् परित्यज्य सर्वत्र त्यक्त्वा, बुधस्तीव्रशक्तिपातेन स्वेतरविवेकज्ञानो जीवन्मुक्तः, स्वभावं शिवदीक्षयाऽभिव्यक्तनिजत्वमेव भावयेत् शिवोऽहं शिवोऽहमिति ज्ञापयेत्।।४८।।

देश, जाति आदि से तथा वर्ण और आश्रम से संबन्द्ध सभी प्रकार के भावों का त्याग कर शिवयोगी केवल अपने स्वभाव का सहारा ले।।४८।।

देश से अभिप्राय कश्मीर, मगध, मालव आदि से तथा जाति से अभिप्राय कर्णाटक, द्रविड़ आदि से है। आदि शब्द से गृह, क्षेत्र, उपवन आदि का ग्रहण किया जाता है।

---

४१. वर्ण, पद और मन्त्र नामक तीन अध्वा शब्दात्मक तथा कला, तत्त्व और भुवन नामक तीन अध्वा अर्थात्मक माने गये हैं। इन षडध्वाओं का संक्षिप्त विवरण महार्थमंजरीपरिमल (पृ. ६८-७१) में तथा विस्तृत विवरण तन्त्रालोक (६-१२ आह्निक) में दिया गया है। हमारे विज्ञानभैरवव्याख्यान (पृ. ६५-६९), तन्त्रयात्रा (पृ. १४-३४) और लुप्ता. उपोद्घात (पृ. १७४-२०२) से भी इनका परिचय प्राप्त किया जा सकता है।

वर्ण शब्द से ब्राह्मण, क्षत्रिय, वैश्य और शूद्रों का तथा आश्रम शब्द से ब्रह्मचर्य, गार्हस्थ्य, वानप्रस्थ और संन्यासाश्रम का ग्रहण किया जाता है। लौकिक व्यवहार में दिखाई पड़ने वाले इन सभी भावों को, अर्थात् देश, जाति, ब्राह्मण, गृहस्थ आदि से जुड़े हुए पूर्व जन्म के पुण्य और पाप कर्मों के अनुसार प्राप्त बुद्धि के द्वारा बनी हुई अपनी भावनाओं को पूरी तरह से छोड़ कर तीव्र शक्तिपात से सम्पन्न विद्वान् विवेक ज्ञान से सम्पन्न हो जीवन्मुक्त अवस्था को प्राप्त कर लेता है। उस समय वह शिवदीक्षा के द्वारा अभिव्यक्त निजस्वरूप की ही, अर्थात् मैं ही शिव हूँ, मैं ही शिव हूँ—इस तरह की भावना में ही निरन्तर लगा रहे।।४८।।

क्षीरे क्षीरं घृते घृतमित्युक्तन्यायत: स्वसत्तार्हानन्यभावशिवसमानताजनित-शिवसायुज्ये स्थितजीवन्मुक्तस्य निर्लेपभूतपरमशिवस्वतन्त्रतां ग्रन्थद्वयेन प्रति-पादयिष्यति—

अहमेको न मे कश्चिद् नाहमन्यस्य कस्यचित्।
न तं पश्यामि यस्याहं तं न पश्यामि यो मम।।४९।।

अहं शिवसामरस्यप्राप्तोऽहम् एको ज्ञातृज्ञानज्ञेयत्रिपुटीरहितभूतैक्यरूपवान्, मे मम कश्चिद् आप्तानाप्तरूपी कश्चिन्नास्ति, अन्यस्याविद्यासम्बन्धेन भिन्नस्य कस्यचिदेकस्यापि, अहं न शत्रुमित्रादिरूपो न भवामि, यस्य सर्वज्ञत्वसर्वकर्तृत्वयुक्त-परशिवस्याहं पूजकवेदकादिरूपी तं शिवं न पश्यामि दृश्यरूपित्वेन न जानामि, मम मे य: परमशिव: पूज्यध्येयादिरूपी, तं न पश्यामि विषयत्वेन न पश्यामि।।४९।।

दूध में दूध और घृत में घृत मिल कर जैसे एकाकार हो जाते हैं, उसी न्याय से अपनी सत्ता जहाँ शिव की सत्ता के साथ एकाकार हो गई है, उस शिवसायुज्य स्वरूप जीवन्मुक्तावस्था में निर्लेप भाव से स्थित शिवयोगी की, परमशिव की स्वतन्त्रता का वर्णन दो श्लोकों में करते हैं—

मैं अकेला ही हूँ, मेरा कोई नहीं है और मैं भी किसी दूसरे का नहीं हूँ। मैं उस दूसरे को नहीं देखता, जिसका मैं हूँ और न किसी उसको ही देखता हूँ, जो मेरा हो।।४९।।

शिव के साथ मैं एकरस हो गया हूँ। मैं अकेला ही ज्ञाता, ज्ञान और ज्ञेय की त्रिपुटी के रहित होकर विद्यमान हूँ। मेरा कोई भी आप्त या अनाप्त, हितकर या अहितकर नहीं है। अविद्या के संबन्ध के कारण भिन्न से प्रतीत हो रहे किसी भी व्यक्ति का मैं शत्रु या मित्र नहीं हूँ। जिस सर्वज्ञत्व, सर्वकर्तृत्व आदि गुणों से युक्त परशिव का पूजन करूँ

या उसको जानने के लिये मैं प्रयत्नशील रहूँ, उस शिव को भी मैं दृश्य रूप में नहीं देख रहा हूँ। मेरा कोई परमशिव पूज्य और ध्येय के रूप में विद्यमान है, उसको भी मैं नहीं देख रहा हूँ।।४९।।

अहमेव परं ब्रह्म जगन्नाथो महेश्वरः ।
इति स्यान्निश्चितो मुक्तो बद्धः स्यादन्यथा पुमान् ।।५०।।

अहमेव परं सर्वोत्तरभूतं ब्रह्मस्वरूपी, अहं जगन्नाथो जगतां लोकानां नाथः कर्तृभूत ईश्वरः, इत्येवंप्रकारेण निश्चितो निर्णीतः, मुक्तः स्याद् बन्धरहितो भवेत्। अन्यथा एवंप्रकारराहित्ये रजस्तमोगुणद्वयोर्ध्वभूतप्रकाशात्मकसत्त्वगुणे, अस्य सुषुप्त्यवस्थायामभिमानरूपेण प्रमातृभूताहंब्रह्मेति कारणाध्यासज्ञानमेव मोक्ष इत्युक्त इत्यर्थः। पुमान् कलाकालविद्यानियतिरागपञ्चकञ्चुकयुक्तपुरुषतत्त्वरूपभूतो बद्धः स्यात्।।५०।।

मैं ही परब्रह्म हूँ, मैं ही जगन्नाथ और महेश्वर हूँ, इस तरह के निश्चय से सम्पन्न व्यक्ति ही मुक्त हो सकता है, अन्यथा वह पुरुष सदा बन्धन में ही पड़ा रहेगा।।५०।।

सबसे परे विद्यमान ब्रह्म मैं ही हूँ। मैं ही इस जगत् का स्वामी और इसकी रचना करने वाला ईश्वर हूँ। इस तरह के निश्चय से सम्पन्न व्यक्ति ही बन्धन से मुक्त हो सकता है। इस तरह की अनुभूति के न जगने पर रज और तम से ऊपर विद्यमान प्रकाशात्मक सत्त्व गुण में ही उसकी स्थिति रह जायगी। उस अवस्था में सुषुप्ति अवस्था के अहमात्मक अभिमान की तरह मैं प्रमातृभूत ब्रह्म हूँ, इस तरह की कारणता के अध्यास के कारण जो ज्ञान की प्रतीति होगी, वही उसके लिये मोक्ष हो जायगा और इस आध्यात्मिक प्रतीति के कारण वह कला, काल, विद्या, नियति और राग नामक **पाँच कंचुकों** से युक्त पुरुष के रूप से मुक्त न होने के कारण बद्ध ही माना जायगा।।५०।।

ततश्चेतनाचेतनान्योन्याध्यासितैकरूपपृथक्कृतपटुतरानुग्राहिकाशक्त्युन्मीलितचिद्दृष्ट्या तनुकरणादिभिन्नशिवानन्यतास्वरूपदर्शनेन स्वपरप्रकाशतारूपजीवन्मुक्तः स्यादिति वदति—

अशरीरं यदात्मानं पश्यति ज्ञानचक्षुषा ।
तदा भवति शान्तात्मा सर्वतो विगतस्पृहः ।।५१।।

यदा यस्मिन् समये आत्मानं स्वम्, अशरीरं स्थूलसूक्ष्मशरीरतोऽन्यम्, इह शरीरशब्देन सह नञ्समासः। नञ आदेशभूतोऽकारस्तदन्यार्थवाचकः। ज्ञानचक्षुषा

ज्ञानेन ''उन्मीलनशक्त्यभिव्यक्तचैतन्यम्'' इत्युक्तचक्षुषा दृष्ट्या पश्यति अपरोक्षीकरोति, तदा तस्मिन् समये, सर्वतः अशुद्धाशुद्धरूपमयसमस्तवस्तुनः सकाशात्, विगतस्पृहः विशेषेण गता नष्टा स्पृहा यस्य सः, शान्तात्मा निर्विकारस्वरूपो भवति।।५१।।

इस स्थिति में पहुँचा हुआ व्यक्ति चेतन और अचेतन तत्त्वों के आपस में मिल जाने से एकाकार हुए स्वरूप को अत्यन्त तीव्र अनुग्रह शक्ति की महायता से उन्मीलित चिति शक्ति के कारण तनु, करण आदि से भिन्न शुद्ध शिवस्वरूप की प्रतीति होने पर ही स्व और पर के विषय और विषयी के स्वरूप का विवेक करने वाली जीवन्मुक्तावस्था प्राप्त हो सकती है—

जब शिवयोगी ज्ञानचक्षु की सहायता से अपनी आत्मा के स्वरूप को शरीर से सर्वथा भिन्न समझ लेता है, तभी सभी अभिलाषाओं से मुक्त होकर वह अपने शाक्त स्वरूप का साक्षात्कार कर सकता है।।५१।।

जिस समय यह शिवयोगी अपनी आत्मा को स्थूल और सूक्ष्म शरीर से भिन्न मानता है, अनुग्रह शक्ति के उन्मीलन से अभिव्यक्त हुई चैतन्य शक्ति रूप ज्ञानदृष्टि से वह अपने वास्तविक स्वरूप का साक्षात्कार करने में समर्थ हो जाता है, उस समय वह शुद्ध-अशुद्ध स्वरूप समस्त सांसारिक वस्तुओं की इच्छा का परित्याग कर, उनके प्रति निस्पृह होकर अपने सभी विकारों से रहित शान्त स्वरूप में स्थिर हो जाता है। यहाँ अशरीर शब्द में नञ् समास है। नञ् के स्थान पर अकार का आदेश हो गया है। यह अन्य अर्थ का वाचक है। अभिप्राय यह है कि यहाँ 'अशरीर' का अर्थ शरीर का अभाव न होकर 'शरीर से भिन्न आत्मा' यह होगा।।५१।।

अचिद्विलक्षीकृतः चित्स्वरूपशिवानन्यताशिवोऽहंभावरूपयोगनिश्चय इति कथयति—

योऽसौ सर्वेषु शास्त्रेषु पठ्यते ह्यज ईश्वरः।
अकायो निर्गुणो ह्यात्मा सोऽहमस्मि न संशयः।।५२।।

यः पुरुषः, असौ अपरोक्षरूपभूतः शिवः, सर्वेषु शास्त्रेषु दिव्यागमेषु, अजः जन्मरहित इति, ईश्वरः सकलकर्तेति, अकायः शरीररहित इति, निर्गुणः गुणरहित इति, आत्मा चैतन्यरूपीति च, हि प्रसिद्धे, पठ्यते उच्यते, स शिव एवाहमस्मि भवामि, न संशयः सन्देह एव नास्ति।।५२।।

अब यह बताया जा रहा है कि अचित् से विलक्षण चित्स्वरूप शिव के साथ पूरी तरह से अभिन्न रूप से जुड़े होने के कारण वह शिवयोगी मैं शिव ही हूँ, इस तरह के शिवयोग से निश्चित रूप से जुड़ जाता है—

सभी शास्त्रों में यह जो अज, ईश्वर, अकाय, निर्गुण आत्मा पठित है, निश्चय ही वह मैं ही हूँ।।५२।।

यह शिव नामक परम पुरुष, जिसका मैं साक्षात्कार रह रहा हूँ, सभी शास्त्रों में, दिव्यागमों में जन्म से रहित, सारे संसार का कर्ता ईश्वर, सभी प्रकार के शरीरों से रहित और सभी गुणों से शून्य निर्गुण आत्मा चैतन्य शक्ति के रूप में वर्णित है। वह निश्चय ही मैं ही हूँ, वह चैतन्य शक्ति से सम्पन्न शिव मैं ही हूँ, इसमें किसी प्रकार का सन्देह नहीं रह जाना चाहिये।।५२।।

निर्विकल्पात्मकशिवानन्ययोगप्रवृत्तचित्स्फुरणेन परिपूर्णपरमस्वतन्त्रात्मकशिवानन्यतारूपी भूत्वा स्थितो भवतीति विज्ञप्तिमात्रो हीत्युक्तपूर्वज्ञानमेवं वरारोहे इत्युक्तग्रन्थपर्यन्तं कथयति—

विज्ञप्तिमात्रो हि सदा विशुद्धः सर्वत्र यस्मात् सततं विमुक्तः ।
नादेयहेयो ह्यहमप्रतर्क्यस्तस्मात् सदा ब्रह्ममयो विशोकः ।।५३।।

अहं यस्मात् कारणात् सदा सन्ततं विज्ञप्तिमात्रः सकलदोषनिवृत्तत्वेन विशिष्टभूतचैतन्यमेव स्वरूपं यस्य स तथोक्तः, सर्वत्र तनुकरणादिविषयसमस्तवस्तुषु विशुद्धनिर्लेपरूपविशेषनिजशुद्धिमान् सततमनवरतं विमुक्तः अपुनर्भवरूपविशेषमुक्तिमान्, नादेयहेयः इदं ममेति ग्रहीतुं योग्यं वस्तु च मास्त्विवति त्यक्तुं योग्यं वस्तु च आदेयहेये, ते न यस्य स नादेयहेयः, हि प्रसिद्धौ, अप्रतर्क्यः मनःसंकल्परूपभूतस्य अहङ्कारस्य अशक्यः, तस्मात् कारणात् सदा अनिशं ब्रह्ममयो ब्रह्मस्वरूपी, विशोकः आत्यन्तिकदुःखनिवर्तनेनानन्दस्वरूपभूतः।।५३।।

निर्विकल्पात्मक शिव के साथ अनन्यभाव से जुड़ जाने वाले शिवयोगी में चिति शक्ति का स्फुरण हो जाने से वह परिपूर्ण परम स्वतन्त्रात्मक शिवस्वरूप से समरस होकर जीवन्मुक्त स्थिति में पहुँच जाता है, इसी स्थिति का अब "विज्ञप्तिमात्रो हि" (श्लो. ५३) से लेकर "ज्ञानमेवं वरारोहे" (श्लो. ६१) पर्यन्त नौ श्लोकों में वर्णन करते हैं—

क्योंकि मैं शुद्ध चैतन्यस्वरूप हूँ, सदा निर्मल हूँ, सभी स्थितियों में मुक्तावस्था में ही विचरण करता हूँ, मेरे लिये हेय या उपादेय कोई वस्तु नहीं है, तर्क के सहारे मेरा स्वरूप जाना नहीं जा सकता, इसलिये मैं सदा शोकरहित ब्रह्मस्वरूप में निमग्न रहता हूँ।।५३।।

क्योंकि मैं सदा समस्त दोषों से मुक्त विशिष्ट चैतन्यस्वरूप हूँ और इसीलिये शरीर, इन्द्रिय, विषय आदि समस्त वस्तुओं के प्रति विशुद्ध, अर्थात् अपनी निर्लिप्त विशेष

प्रकार की शुद्ध भावनाओं के कारण मैं निरन्तर पुनर्भव से रहित विशेष मुक्ति की ओर बढ़ रहा हूँ। यह मेरे ग्रहण के योग्य है, यह वस्तु मुझसे दूर ही रहे, इस तरह की ग्रहण और त्याग की भावना से मैं दूर हूँ, इस विषय को सभी जानते हैं। यत: मन के संकल्प-स्वरूप तर्क-वितर्क से मैं जाना नहीं जा सकता, अत: मैं सदा दु:ख की आत्यन्तिक निवृत्ति हो जाने के कारण प्रकट हुए अपने आनन्दमय ब्रह्मस्वरूप में ही सदा निमग्न रहता हूँ।।५३।।

चक्रभ्रमणवत् प्रारब्धवासनामात्रशेषभूतं शरीरं बन्धनरूपं न भवतीति कथयति—

आमस्तकं पादतलावसानं सान्तर्बहिश्चर्मपटावनद्धम् ।
तत्कृत्स्नमेवामृतरूपमन्यत् चिद्रूपमात्मानमनन्यसिद्धम् ।।५४।।

अनन्यसिद्धम् अनन्यमिति सामुद्रनादेयजलसम्बन्धसादृश्येन शिवस्यानन्यो भूत्वा सिद्धं चिद्रूपं चिदेव रूपं यस्य तम् आत्मानं स्वकं प्रति अन्यदचेतनरूपत्वेन भिन्नम् आमस्तकं मूर्धानमारभ्य पादतलावसानं पादतलमेवावसानमन्त्यं यस्य तत् तथोक्तम्, सान्तर्बहिश्चर्मपटावनद्धम् अन्तर्बहिश्चर्म एव पटस्तेन त्वगम्बरेण अवनद्धं पिनद्धं तत् कृत्स्नं सकलतत्त्वरूपभूतशरीरम्, अमृतरूपमेव मोक्षस्वरूपमेव।।५४।।

अब इस बात को समझाते हैं कि मात्र प्रारब्ध वासनाओं के बचे रहने के कारण कुम्हार के चक्र के समान गतिशील यह शिवयोगी का शरीर बन्धन का कारण नहीं बनता—

मस्तक से लेकर पादतल पर्यन्त यह सारा शरीर बाहर और भीतर चमड़ी से ढका हुआ है, मढ़ा हुआ है। वह सब कुछ अमृतमय चिद्रूप आत्मा से कभी भिन्न नहीं हो सकता।।५४।।

समुद्र के या नदी के जल के दृष्टान्त से, अर्थात् इन सबका जल जैसे पृथक् नहीं है, उसी तरह से इस संसार की भी सभी वस्तुएँ भगवान् शिव से कभी पृथक् नहीं हो सकतीं। इसीलिये वे सब चित्स्वरूप आत्मा का अपना ही स्वरूप मानी जाती हैं, शिवयोगी उनको इसी रूप में देखता है। इससे भिन्न भी अचेतन के रूप में प्रतीत हो रहा, मस्तक से लेकर पादतल पर्यन्त बाहर-भीतर चमड़े से मढ़ा हुआ यह समस्त तत्त्व-भुवन मय स्थूल पांचभौतिक शरीर भी यहाँ वर्णित समस्त शुभ लक्षणों से सम्पन्न शिवयोगी की दृष्टि में अमृतमय ही है, मोक्षस्वरूप ही है।।५४।।

ईशोऽहमेवास्य चराचरस्य
पिता च माता च पितामहश्च ।
ध्यानं समास्थाय पदं चतुर्थं
ध्यायन्ति मामेव विमुक्तिकामाः ।।५५।।

अस्य पूर्ववर्तिनश्चराचरस्य चेतनाचेतनरूपभूतप्रपञ्चस्य, अहमेवेशः कर्ता, पिता जनकश्च, माता च जननी च, पितामहश्च पितुः पिता च, अहमेव सृष्टिकर्तृभूतः शिवश्च, तच्छिवसमवेतरूपिणी सृष्टिकारिणी शक्तिश्च, शक्तिव्यवहारोर्ध्वभाविभूतानाख्यभूतवस्तु च स्वयमेवेत्यर्थः। ध्यानं समास्थाय निश्चलरूपत्वे स्थित्वा चतुर्थं तृतीयान्तं पदं सायुज्यपदं मामेव विमुक्तिकामा मोक्षाभिलाषिणो विवेकिनो ध्यायन्ति ध्यानं कुर्वन्ति।।५५।।

वह शिवयोगी मानता है कि मैं इस चराचर जगत् का स्वामी हूँ। मैं ही सबका माता-पिता और पितामह हूँ। मुक्ति की कामना वाले ऐसे शिवयोगी चतुर्थ सायुज्य पदवी को प्राप्त करने के लिये सदा मेरे ही स्वरूप के ध्यान में निमग्न रहते हैं।।५४।।

इस सामने दिखाई पड़ने वाले जड़ और चेतन स्वरूप समस्त प्रपंच का मैं ही स्वामी हूँ, मैंने ही इसकी रचना की है, मैं ही इसका पिता हूँ, मैं ही माता हूँ और मैं ही पितामह भी हूँ। मैं इस सृष्टि के कर्ता शिव से अलग नहीं हूँ और शिव के साथ समवेत रूप में विद्यमान, उससे कभी पृथक् न होने वाली सृष्टि की रचना करने वाली शक्ति से भी मैं अलग नहीं हूँ। इसी तरह से शक्ति के व्यवहार से ऊर्ध्व विद्यमान अनाख्य, अनाम रूप वाली स्थिति में भी मैं स्वयं ही विद्यमान हूँ। इसीलिये ध्यान की स्थिति में अपने मन को निश्चल बनाकर चतुर्थ सायुज्य पदवी को चाहने वाले विवेकी शिवयोगी मुक्ति की अभिलाषा के जागने पर मेरी ही उपासना करते हैं।।५५।।

ब्रह्मादिभिर्देवमनुष्यनागै-
गन्धर्वयक्षाप्सरसां गणैश्च ।
यज्ञैरनेकैरहमेव पूज्यो
मामेव सर्वे प्रतिपूजयन्ति ।।५६।।

ब्रह्मादिभिः ब्रह्ममुखैः, आदिशब्देन विष्णवादिभिश्च देवैः सुरलोकनिवासिभिः, अनेकैश्च मनुष्यैः मर्त्यलोकस्थितानेकपुरुषैश्च, नागैः पातालवासिभिरनेकैर्नागैश्च, गन्धर्वयक्षाप्सरस इति देवताभेदाः, तेषां गणैः समूहैश्च, अनेकैरसंख्यातैः, यज्ञैः

ज्योतिष्टोमाश्वमेधराजसूयादियज्ञैश्च, अहमेव पूज्यः पूजितुं योग्यः, सर्वे समस्ता मामेव पूजयन्ति अर्चयन्ति।।५६।।

ब्रह्मा आदि के द्वारा देवता, मनुष्य, नाग, गन्धर्व, यक्ष और अप्सराओं के द्वारा भी मैं ही पूजनीय हूँ। यज्ञ आदि के द्वारा भी मैं ही आराधनीय हूँ। सभी लोग मेरी ही पूजा करते हैं।।५६।।

ब्रह्मा, विष्णु, महेश्वर आदि महनीय देवताओं के द्वारा और स्वर्गलोग में निवास करने वाले देवताओं के द्वारा भी मैं ही पूजनीय हूँ। मर्त्यलोक में निवास करने वाले नाना प्रकार के मनुष्यों के द्वारा, पाताललोक में निवास करने वाले नागों के द्वारा, देवलोक के गन्धर्व, यक्ष, अप्सराओं के द्वारा और नाना प्रकार के गणदेवताओं के द्वारा भी मैं ही पूजनीय हूँ। ज्योतिष्टोम, अश्वमेध, राजसूय जैसे यज्ञों के द्वारा भी मेरी ही उपासना की जाती है। इन सबसे मैं ही पूजनीय हूँ। ये सब मेरी ही पूजा करते हैं।।५६।।

तपोभिरुग्रैर्विविधैश्च दानै-
र्ममेव सर्वे प्रतिपूजयन्ति।
भूतानि चाहं स्थिरजङ्गमानि
यावन्ति चान्यान्यहमेव तानि।।५७।।

उग्रै क्रूरैः, तपोभिः निराहाराल्पाहारावाहारवायुपर्णाशित्वकन्दमूलाद्याहारपञ्चाग्निमध्यस्थित्यादिभिश्च, विविधैर्नानाप्रकारैर्दानैः भूकपिलाकन्यागजकल्पवृक्षमहामेरुदानादिदानैश्च, सर्वे समस्ता मां प्रत्येव पूजयन्ति अर्चयन्ति, भूतानि च स्थूलसूक्ष्मरूपमयानि भूतानि च अहं स्थिरजङ्गमानि चेतनाचेतनरूपमयानि स्थावरजङ्गमानि च, अन्यानि पूर्वोक्तवस्तुव्यतिरिक्तानि यावन्ति यावत् परिमितवस्तूनि सन्ति तानि तच्चाहमेव।।५७।।

उग्र तपस्या करके और विविध दानों को देकर सभी मेरी ही पूजा करते हैं। स्थावर, जंगम अथवा अन्य सब प्रकार के जितने भी प्राणी हैं, वे सब मेरे ही स्वरूप हैं।।५७।।

निराहार, अल्पाहार, [४२]अवाहार, वायुभक्षण, पर्णभक्षण, कन्द-मूल आदि का आहार, पंचाग्नि के बीच में बैठना—ये सब उग्र तप के अन्तर्गत आते हैं। पृथिवी, गौ, कन्या, हाथी, कल्पवृक्ष, महामेरु—इस तरह की वस्तुओं को योग्य पात्र को समर्पित करना दान कहलाता है। इन सबसे प्राणी मेरी ही पूजा करते हैं। स्थूल-सूक्ष्म आकार

---

४२. अवाहार शब्द का अर्थ कदाहार हो सकता है।

के प्राणी, यह स्थावर-जंगमात्मक जगत् और इसमें विद्यमान अन्य सभी प्रकार की परिमित-अपरिमित वस्तुएँ—वह सब मैं ही हूँ।।५७।।

अस्य जीवन्मुक्तस्य सोपाधिकावस्थाप्राप्तशिवानन्यत्वमुक्त्वा निरुपाधिकावस्थां गतं शिवानन्यत्वं कथयति—

न स्थूलसूक्ष्मो न च शून्यरूपो ज्ञानैकरूपो जगदेकबन्धुः ।
निरन्तरो निर्मल ईश्वरोऽहं स्वप्नाद्यवस्थाच्युतिनिष्प्रपञ्चः ।।५८।।

न स्थूलसूक्ष्म: स्थूलरूपश्च सूक्ष्मरूपश्च न भवामि, स्थूलत्वसूक्ष्मत्यरूपपरिणामस्य कार्यकारणरूपाचेतनबिन्दुमायाधर्मत्वात्। अभिन्ननिमित्तोपादानादिदेहपरिणतात्मवादिनां प्रकारेण स्थूलसूक्ष्मरूपो न भवतीत्यभिप्राय:। न च शून्यरूप: शून्यभाव एव स्वरूपो यस्य स न भवति, शशविषाणवत् शून्यरूपो नहि असद्रूपो नेत्यर्थ:। ज्ञानैकरूप: चैतन्यैकरूप:, एकबन्धु: अद्वितीयबन्धु:, आप्त: अनिष्टदोषनिवारणेषु नि:श्रेयसपदशब्दनिमित्तप्रदत्वात् परमाप्त इत्यर्थ:। निरन्तरो देशकालाभ्यामपरिमित:, निर्मल: अनादिमलरहित:, एवंभूत ईश्वर: परमेश्वर:, अहं पूर्वोक्तसकलगुणविशिष्ट-परमशिव एवाहम्। अजातनिर्मितत्वात् स्वप्नाद्यवस्थाच्युतिनिष्प्रपञ्च: प्रपञ्चान्त-र्भूतत्वव्यतिरिक्त:।।५८।।

इस जीवन्मुक्त की सोपाधिक अवस्था में भी शिव से अभिन्नता बनी रहती है, यह बताने के बाद अब निरुपाधिक अवस्था में भी उसकी शिव से अनन्यता कैसे बनती है, इसे दिखाते हैं—

न मैं स्थूल हूँ, न सूक्ष्म ही और न मैं शून्य रूप हूँ। मैं तो ज्ञानमात्र स्वरूप हूँ, इस सारे जगत् का हितचिन्तक हूँ। मैं देश और काल से अपरिच्छिन्न हूँ। स्वप्न आदि अवस्थाओं से निर्मुक्त, निर्मल, निष्प्रपंच ईश्वर मैं ही हूँ।।५८।।

मैं स्थूल और सूक्ष्म इन दोनों ही परिमाणों से रहित हूँ, क्योंकि इस तरह के स्थूल-सूक्ष्म आकारों को ग्रहण करना अचेतन बिन्दु, माया आदि धर्मों की कार्यकारण-परम्परा के कारण होता है। हमारे मत में ईश्वर में अभिन्ननिमित्तोपादानता नहीं मानी जाती, अत: यह स्थूल-सूक्ष्मता चेतन का धर्म न होकर बिन्दु, माया आदि अचेतन पदार्थों से प्रसूत है। इसी तरह से शशविषाण की तरह मैं पूरी तरह से असद्रूप भी नहीं हूँ। मैं तो चैतन्यस्वरूप हूँ। सारे जगत् का हित करने वाला हूँ, आप्त हूँ, मनुष्य मात्र के अनिष्ट का निवारण हो और उसको नि:श्रेयस पद की प्राप्ति हो, इसके लिये सचेष्ट रहने के कारण मैं सबके लिये परमाप्त हूँ, सब कोई मुझ पर पूरा विश्वास रख सकते हैं। इस कार्य में मैं निरन्तर देश और काल का व्यवधान छोड़कर लगा रहता हूँ। इसी तरह अनादि

मल से मुक्त होकर अभी बताये गये समस्त गुणों से सम्पन्न होकर मैं स्वयं ही परमशिव स्वरूप बन गया हूँ। अजातवाद के सिद्धान्त के अनुसार मेरा यह स्वरूप बना है, अतः स्वप्न आदि अवस्थाओं से रहित होने से मैं इस सारे बिन्दु-माया जन्य प्रपंच से ऊपर हूँ।।५८।।

सकलविकल्पातीतशिवसामरस्यात्मकशिवाऽहंभावनापरिपूर्त्या "यथा जलं जले क्षिप्तं क्षीरे क्षीरं घृते घृतम्। अविशेषो भवेत् तद्वदात्मा तु परमात्मनि।।" इत्युक्तग्रन्थानुसारेण समस्तश्रेयोमौलीभूतपरमनिर्वाणपदप्राप्तो भवेदिति ग्रन्थद्वयेन प्रतिपादयिष्यति—

अनादिविज्ञानमजं पुराणं गुहाशयं निष्कलमप्रपञ्चम्।
निरञ्जनं निष्प्रतिमं निरीशमदृश्यमग्राह्यमचिन्त्यरूपम् ।।५९।।

अनादिविज्ञानम् अनादि च तद् विज्ञानं च अनादिविज्ञानं तत्त्वतात्त्विकादिव्यञ्ज-कानपेक्षापुरस्सरानवतरोद्बोधरूपपरानपेक्षणतानादिविज्ञानं चराचरात्मकानन्तनिरवशेष-विश्वसाक्षिकतारूपविशिष्टत्वानन्यतात्मचिच्छक्तित्वम्, अजं स्वसंपादितान्यसंपादितसर्गा-दिपञ्चकानन्तर्भूतं नित्यम्, पुराणमनादिम्, गुहाशयं "बिन्दुमध्यगतं सूक्ष्मं सुषिरज्योति-रूपकम्। दृष्टान्तं सर्वभूतानां स(सु)शान्तवद् दीपकम्।।" इत्युक्तमित्यधिष्ठेयरूपबिन्दु-नामकगुहामावासत्वेन प्राप्तम्, निष्कलं शान्त्यतीतादिकलोपाधिरहितम्, अप्रपञ्चं बिन्दुमायाजन्यतत्त्वतात्त्विकादिरूपानन्तप्रपञ्चलेशालिप्तं शून्यम्, निरञ्जनम् अनाद्यविद्या-दोषरहितम्, निष्प्रतिमम् असदृशरूपम्, "आत्मानं गगनं कृत्वा बिन्दुं कृत्वा तथैव च। द्वयं समरसं कुर्यादमनस्का कला हि सा।।" इत्युक्तसदृशव्यवहारदूरम्, निरीशम् ईशशब्दोपलक्षितप्रवृत्तोद्युक्तशक्तव्यवहारनिवृत्तम्, अदृश्यं विषयत्वेनानव-स्थितम्, अग्राह्यं ग्रहीतुमयोग्यम्, "न चासाविन्द्रियग्राह्यो न करणेन चक्षुषा। आत्मनैवात्मनि ग्राह्यः सर्वगः प्रभुरीश्वरः।।" इत्युक्तग्राह्यताव्यतिरिक्तमित्यर्थः। अचिन्त्यरूपम् "अतीतः सर्वभावानामचिन्त्यो गुणवर्जितः। सर्वकृत् सर्वगः सर्वः सर्वभूतः सनातनः।।" इति कथितग्रन्थानुसारतश्चिन्तयितुमयोग्यमित्यर्थः।।५९।।

समस्त विकल्पों से अतीत शिवसामरस्य-स्वरूप मैं ही शिव हूँ, इस प्रकार की भावना के परिपूर्ण हो जाने पर जीवन्मुक्त उसी तरह से शिव के साथ एकरस हो जाता है, जैसे कि जल के जल में, दूध के दूध से और घृत के घृत में मिलने से वे एकाकार हो जाते हैं। "यथा जलं जले क्षिप्तं क्षीरे क्षीरं घृते घृतम्। अविशेषो भवेत् तद्वदात्मा तु परमात्मनि।।" इस वचन में यही बात कही गई है। इस स्थिति में जीवन्मुक्त पुरुष समस्त कल्याणों के शिरोमणि निर्वाण पद को प्राप्त कर लेता है, यही विषय अगले दो श्लोकों में वर्णित है—

मैं अनादि विज्ञान से सम्पन्न, अजन्मा, पुराण-पुरुष हूँ। हृदय स्थित गुहा में मेरा निवास है। मैं निष्कल, निष्प्रपंच, निरंजन, निरुपम, निरीश, अदृश्य, अग्राह्य और अचिन्त्य स्वरूप वाला हूँ।।५९।।

अनादि विज्ञान का अर्थ यह है कि मेरा विज्ञान अनादि काल से चला आ रहा है, इसकी अभिव्यक्ति तत्त्व, तात्त्विक आदि व्यंजक धर्मों की अपेक्षा किये बिना निरन्तर उद्‌बुद्ध रहती है, यह दूसरे की अपेक्षा रखे बिना अनादि काल से चला आ रहा है और यह चराचरात्मक अनन्त समस्त विश्व का साक्षी होने से, चिच्छक्ति से सम्पन्न होने से अपनी अनन्य विशेषता से सम्पन्न है। अज का अभिप्राय यह है कि मैं अपने द्वारा अथवा किसी अन्य के द्वारा संपादित कृत्यपंचक के अन्तर्भूत नहीं हूँ। मैं नित्य एवं अनादि पुराण तत्त्व हूँ। "बिन्दुमध्यगतं सूक्ष्मं सुषिरज्योतिरूपकम्। दृष्टान्तं सर्वभूतानां सुशान्तवद्दीपकम्।।" इस वचन के अनुसार मैं गुहाशय हूँ, अर्थात् अधिष्ठेय बिन्दुनामक गुहा में अपना आवास बना कर बैठा हुआ हूँ। मैं निष्कल हूँ, शान्त्यतीत आदि कलाओं की उपाधि से रहित हूँ। मैं अप्रपंच हूँ, बिन्दु, माया आदि से उत्पन्न अनन्त रूपों वाले तत्त्व, तात्त्विक आदि के प्रपंचों से लेशमात्र भी लिप्त नहीं हूँ, इनसे पूरी तरह से दूर हूँ। निरंजन, अर्थात् अनादिकालीन अविद्या के दोषों से रहित हूँ। अप्रतिम हूँ, मेरी उपमा किसी से नहीं दी जा सकती। "साधक योगी अपनी गगन से या बिन्दु से तुलना कर इन दोनों को समरस कर दे। यह अमनस्का कला, अर्थात् उन्मनी स्थिति कहलाती है" यहाँ आकर आकाश और बिन्दु की समान ही स्थिति हो जाती है। मैं निरीश हूँ, अर्थात् ईश्वर के द्वारा किये जाने वाले [43]प्रवृत्त, उद्युक्त और शक्त नामक त्रिविध व्यापारों से मैं ऊपर उठ गया हूँ। अदृश्य हूँ, विषय के रूप में दिखाई नहीं पड़ता। मैं इन्द्रिय आदि के द्वारा अग्राह्य हूँ। शास्त्र में बताया गया है—"यह सर्वत्र विद्यमान प्रभु ईश्वर चक्षु आदि बाह्य इन्द्रियों के द्वारा अथवा अन्तःकरण के द्वारा भी ग्रहण करने के अयोग्य है। वह तो अपनी आत्मा से अपने भीतर ही देखा जा सकता"। इसी तरह से मैं अचिन्त्य रूप वाला हूँ। शास्त्र में बताया गया है—"यह परम तत्त्व सभी भावों से अतीत है, अचिन्त्य है, सभी गुणों से शून्य है। यही सब कुछ बनाने वाला है, सर्वत्र विद्यमान है, यही सब कुछ स्थावर-जंगमात्मक जगत् है, यही सनातन पुरुष है"। इस वचन के अनुसार मैं सभी प्रकार की भावनाओं से भी अतीत हूँ।।५९।।

---

४३. पति (भगवान् शिव) की शक्त, उद्युक्त और प्रवृत्त नामक तीन अवस्थाओं का; निष्कल, सकल और सकलनिष्कल; ईश, सदाशिव, शान्त; एवं लय, भोग और अधिकार नामक त्रिविध स्थितियों का परिचय लुप्ता. उपो. (पृ. १३०) से प्राप्त किया जा सकता है।

सनातनं ब्रह्म निरन्तरं यत्
पदे पदे सोऽहमिति प्रपश्येत् ।
यो भावतस्तिष्ठति निष्प्रकम्पः
स ब्रह्मभूतोऽमृततामुपैति ।।६०।।

सनातनं नाशशून्यं निरन्तरं व्यापकं यद् ब्रह्म स एवाहमिति पदे पदे सकल-निश्चये प्रपश्येत् विलोकयेत्, यः कश्चिद् भावतः शिवोऽहंभावनाभावतः निष्प्रकम्पः "विरजं विमलं शान्तं प्रपञ्चातीतगोचरम्। निष्कम्पं करणातीतं सर्वज्ञं सर्वतोमुखम्।।" इत्युक्तग्रन्थानुसारतो निश्चलीभूत्वा तिष्ठति अवस्थितो भवेत्, ब्रह्मभूतः ब्रह्मसदृशः, सोऽमृततां मुक्तत्वम् उपैति प्राप्नोति ।।६०।।

इस सनातन ब्रह्म को जो योगी निरन्तर पग पग पर मैं ही वह हूँ, इस तरह से देखता रहता है और इसी भाव में जो निश्चल रूप में स्थिर रहता है, वह योगी ब्रह्मस्वरूप हो अमृतपदवी को प्राप्त कर लेता है।।६०।।

सनातन का अर्थ है नाशशून्य, निरन्तर का अर्थ है व्यापक। ब्रह्म के इस तरह के स्वरूप को जो अपना ही मानता है, चिलते-फिरते, सोते-जागते सभी स्थितियों में जो इस निश्चय से च्युत नहीं होता, पूरी तरह से इस तत्त्व का ही अवलोकन करता रहता है और जो इस 'शिवोऽहंभावना' से कभी विचलित नहीं होता, शास्त्रवचन के अनुसार जो "विरज, विमल, शान्त, प्रपंच से अतीत, निष्कम्प, करणातीत, सर्वज्ञ और सर्वतोमुख परमशिव के ध्यान में अविचल भाव से स्थित रहता है", वह ब्रह्मस्वरूप होकर शिव-सादृश्य रूप अमृतपदवी को प्राप्त कर लेता है, मुक्त हो जाता है।।६०।।

एवंप्रकारेण परमेश्वरपरसायुज्यसाधनभूतं ज्ञानस्वरूपं देव्या निरूप्य तदनन्तरमुद्देशानुसारतस्तस्या ज्ञानानुसारीभूतमाचारं निरूपयितुं प्रतिजानीते—

ज्ञानमेवं वरारोहे कथितं मोक्षसिद्धये ।
आचारं कथ्यमानं तु साम्प्रतं शृणु तं मया ।।६१।।

हे वरारोहे ! इत्यवबोधने, एवमेतत्प्रकारम्, मोक्षसिद्धये मुक्तेः प्राप्तये, ज्ञानमुक्तं कथितम्। मया कथ्यमानं वक्ष्यमाणं तं प्रकृतपूर्वप्रतिपादितज्ञानोचितम् आचारं साम्प्रतं शृणु। पूर्वसमर्थितज्ञानपूर्वं वक्ष्यमाणाचाररूपोभयसाधनसंमेलनेन परमनिःश्रेयससिद्धिर्भवेदित्यर्थः।।६१।।

इस तरह से परमेश्वर के परम सायुज्य के साधनभूत ज्ञान का स्वरूप बताने के बाद भगवान् शिव देवी को प्रथमतः उद्दिष्ट ज्ञान के अनुरूप आचार का भी स्वरूप बताने की प्रतिज्ञा करते हैं—

हे वरारोहे ! मोक्ष की प्राप्ति के साधन ज्ञान का इस तरह से मैंने तुमको उपदेश किया। अब मैं आचार का उपदेश कर रहा हूँ। उसे तुम सावधानी से सुनो।।६१।।

वरारोहे, यह संबोधन है। हे देवि ! इस तरह से मुक्ति की प्राप्ति के लिये आवश्यक ज्ञान को मैंने तुमको सुनाया है। अभी कहे गये ज्ञान के अनुरूप शिवयोगी का आचरण कैसा हो, अब मेरे द्वारा कहे जाने वाले उस आचार को सावधानी से सुनो। पूर्व वर्णित ज्ञान के साथ अभी कहे जाने वाले आचार को, अर्थात् ज्ञान और आचार—इन दोनों को एक साथ मिलाने से ही, दोनों का साथ-साथ अभ्यास करने से ही परम निःश्रेयस की प्राप्ति हो सकती है।।६१।।

पूर्वोक्तज्ञानयुक्तजीवन्मुक्तस्य त्याज्ययोग्यपूर्वक्रिया न स्नानं न जप इत्युक्त-ग्रन्थाद्यात्मारामो भवेद्योगीत्युक्तग्रन्थान्तं समर्थयति—

न स्नानं न जपः पूजा होमो नैव च साधनम्।
अग्निकार्यादिकार्यं च नैतस्यास्ति महेश्वरि ।।६२।।

स्नानं वारुणादिस्नानं च नास्ति, जपो गायत्र्यादिजपो न, पूजा "शैवं च वैष्णवं चापि स्कान्दं वैनायकं तथा। शाक्तिकं च" इत्युक्तपञ्चविधपूजा च न, होमो ज्योतिष्टोमादियज्ञो न, साधनं फलसाधनं न, अग्निकार्यादिकार्यं च अग्निपूर्वकार्यं च न, "नाभ्यन्तरस्थितं वह्निसदृशं विस्फुलिङ्गवत्। निर्गम्य पावके बाह्ये नीलबिम्बाकृतिं स्मरेत्।।" इत्युक्ताग्निस्मरणपूर्वाग्निकार्यं च एतस्य जीवन्मुक्तस्य नास्ति।।६२।।

पूर्व वर्णित ज्ञान से सम्पन्न जीवन्मुक्त शिवयोगी के लिये छोड़ने लायक क्रियाओं का उपदेश भगवान् शिव "न स्नानं न" (श्लो. ६२) से लेकर "आत्मारामो भवेत्" (श्लो. ७४) पर्यन्त १३ श्लोकों में कर रहे हैं—

स्नान, जप, पूजा, होम और अपनी इच्छा की पूर्ति के किये जाने वाले साधनों की, इसी तरह से देवपूजन, पितृतर्पण, तीर्थयात्रा और व्रत का आचरण—इन सबकी शिवयोगी के लिये कोई उपयोगिता नहीं है।।६२।।

स्नान शब्द से वारुण [४४]आदि स्नान गृहीत हैं। शिवयोगी के लिये इनकी कोई उपयोगिता नहीं है। गायत्री आदि मन्त्रों के जप की भी उसको कोई जरूरत नहीं है।

---

४४. छः, सात अथवा आठ प्रकार के स्नानों का वर्णन कूर्मपुराण (२.१८.१२-१७), मृगेन्द्रागम (क्रिया. २.२), कर्मकाण्डक्रमावलि (पृ. १-४), सिद्धान्तसारावलि (पृ. ११०-११२) आदि ग्रन्थों में मिलता है। इनके नाम ये हैं— वारुण, आग्नेय, भौम, वायव्य, दिव्य, ब्राह्म, गौरव और यौगिक (मानस)।

पूजा शब्द से शैव, वैष्णव, स्कान्द[४५], वैनायक और शाक्त नामक सम्प्रदायों की पंचविध पूजा गृहीत होती है। उसकी भी कोई उपयोगिता नहीं है। ज्योतिष्टोम आदि यज्ञों की और विभिन्न फलों की प्राप्ति के लिये किये जाने वाले नाना प्रकार के साधनों की, आन्तर अग्नि की सहायता से किये जाने वाले आभ्यन्तर यजन की भी शिवयोगी को कोई अपेक्षा नहीं है। "नाभि के भीतर विद्यमान, अग्नि के स्फुलिंग के समान प्रज्वलित [४६]अग्नि की नील बिम्बसदृश आकृति का ध्यान कर उसे बाह्य अग्नि में प्रतिष्ठित करे" इस वचन के अनुसार नाभिस्थित वह्नि का स्मरण कर उसे बाह्य अग्नि में प्रतिष्ठित कर उसकी सहायता से अग्निकार्य का सम्पादन करने की भी उसे कोई आवश्यक नहीं है, क्योंकि वह तो इन सब लौकिक व्यवहारों से ऊपर उठ कर जीवन्मुक्त दशा में पहुँच गया है।।६२।।

नियमोऽपि न तस्यास्ति क्षेत्रपीठे च सेवनम्।
नार्चनं पितृकार्यादि तीर्थयात्रा व्रतानि च।।६३।।

तस्य जीवन्मुक्तस्य नियमोऽपि "शौचं तूष्णीं तपश्चैव जप: प्रणतिरेव च। इति पञ्चप्रभेद:" इत्युक्तग्रन्थविवृतनियमश्च नास्ति, क्षेत्रपीठे "पौरुषे चार्षके चैव बाणे दैविकसम्भवे। शतवृद्ध: सपर्याया: शिवक्षेत्रमिदं भवेत्।।" इत्युक्तक्षेत्रपीठे च, सेवनं च नास्ति, पितृकार्यादि पितृकार्यपूर्वार्चनम्, तीर्थयात्रा व्रतानि च "तप: संतोषमास्तिक्यं दानमीश्वरपूजनम्। सिद्धान्तश्रवणं लज्जा मतिर्जाप्यं व्रतं दश।।" इत्युक्तव्रतानि च न सन्ति।।६३।।

उसके लिये किसी नियम के पालन की और क्षेत्र एवं पीठ के सेवन की भी कोई अपेक्षा नहीं है। पूजन, पितृकार्य, तीर्थयात्रा और व्रताराधन भी उसके लिये अपेक्षित नहीं है।।६३।।

जीवन्मुक्त शिवयोगी के लिये शौच, मौन, तप, जप और नमस्कार नामक शास्त्रनिर्दिष्ट [४७]पाँच प्रकार के नियमों के पालन की कोई आवश्यकता नहीं है। श्रेष्ठ पुरुषों के द्वारा, ऋषियों के द्वारा स्थापित लिंगों के साथ बाणलिंग एवं स्वयं अपने आप प्रकट हुए स्वयंभू लिंग जिन स्थलों पर विद्यमान हों, उन स्थलों को **क्षेत्रपीठ** कहा जाता है। इस [४८]**शिवक्षेत्र** में की गई पूजा का फल सौ गुना बढ जाता है। किन्तु उस शिवयोगी

---

४५. षट्शाम्भव मत में स्कान्द सम्प्रदाय भी समाविष्ट है। ऊपर की १७ संख्या की टिप्पणी देखिये।

४६. शैवागमों में इसे शिवाग्नि नाम दिया गया है। शिवपुराण की प्रथम विद्येश्वर संहिता (१८.६२-६९) में इसका स्वरूप वर्णित है।

४७. ये नियम पातंजल योग में निर्दिष्ट पाँच नियमों से कुछ भिन्न प्रकार के हैं।

४८. "क्षपणात् सर्वपापानां त्राणात् सर्वस्य पार्वति।। रुद्रशक्तिसमावेशस्तत्क्षेत्रम्" (श्लो. १४७) विज्ञानभैरव के इस वचन में क्षेत्र पद की यह व्युत्पत्ति दी गई है।

के लिये इसकी भी कोई अपेक्षा नहीं रह जाती। पितरों के श्राद्ध, पूजन आदि की, तीर्थयात्रा की और व्रतपालन की भी उसे आवश्यकता नहीं रहती। शास्त्रों में तप, संतोष, आस्तिक्य, दान, ईश्वरपूजन, सिद्धान्तश्रवण, लज्जा, मति और जप नामक [४९]**दस नियमों** के पालन का विधान मिलता है। शिवयोगी के लिये ये भी आवश्यक नहीं हैं।।६३।।

धर्माधर्मफलं नास्ति न तिथिलौकिकक्रिया ।
सन्त्यजेत् सर्वकर्माणि लोकाचारं च सर्वशः ।।६४।।

धर्माधर्मफलं पुण्यपापयो: फलं सुखदु:खं नास्ति, लौकिकक्रिया लोकधर्मक्रिया (न) तिथिर्नास्ति। सर्वकर्माणि समस्तयोगान् लोकाचारं च लोकानां जनानामाचारं सन्ध्यावन्दनाद्याचारं च सर्वश: सर्वत्र सन्त्यजेत् सम्यक् परित्यजेत्।।६४।।

उसके द्वारा आचरित धर्म अथवा अधर्म से उसे किसी फल की प्राप्ति नहीं होती। लौकिक व्यवहार के लिये उसे तिथि आदि का सहारा नहीं लेना पड़ता। ऐसा शिवयोगी सब प्रकार के अनुष्ठानों का और लोकाचार का भी सर्वथा परित्याग कर दे।।६४।।

शिवयोगी के द्वारा आचरित धर्माधर्म, पुण्य-पाप का फल सुख-दु:ख के रूप में प्रतिफलित नहीं होता। लोक-व्यवहार को सम्पन्न करने के लिये उसे तिथि, वार आदि का सहारा लेने की भी कोई अपेक्षा नहीं है। समस्त कार्यों को और समस्त लोकाचारों को भी इसे छोड़ देना चाहिये। सन्ध्यावन्दन जैसे लौकिक आचारों के अनुष्ठान की उसे किसी प्रकार की भी अपेक्षा नहीं रह जाती।।६४।।

समयाचारनि:शेषान् कृत्यजातं तु बन्धनम् ।
संकल्पं च विकल्पं च ये चान्ये कुलधार्मिका: ।।६५।।

समयाचारनि:शेषान् समयात् समयदीक्षाया अनन्तरं भाविन आचारान् "मद्भक्तजनवात्सल्यं पूजायां चानुमोदनम्। स्वयमभ्यर्चनं भक्त्या ममार्थे चाङ्गचेष्टनम्।। मत्कथाश्रवणे भक्ति: स्वरनेत्राङ्गविक्रिया। ममानुस्मरणं नित्यं मम कैतववर्जितम्।। एतदष्टविधम्" इत्युक्तपूर्वोत्तररूपान् आचारान् नि:शेषान् शेषरहितान्, कृत्यजातं

---

४९. यहाँ नौ ही नियम परिगणित हैं। वैखानस, पाशुपत आदि मतों एवं पुराणों में भी दस नियमों की नामावली मिलती है। तदनुसार श्रद्धा अथवा होम का यहाँ समावेश करने पर यह संख्या पूरी हो जाती है। नारदपुराण में यमों की संख्या सात और नियमों की छ: बताई गई है (१.३३.७५,८७)। लिंगपुराण (१.८) में यमों की संख्या तो पाँच ही है, किन्तु नियम दस हैं। देवीभागवत (७.३५.६-८) में यम और नियम दोनों की संख्या दस-दस है। श्रीमद्भागवत (११.१९.३३-३५) में इनकी संख्या बारह-बारह दी गई है।

कारयितुं योग्यं पूर्वक्रियाजातं तु बन्धनम्। संकल्पं च इच्छारूपं मन:संकल्पं च विकल्पं च पूर्वावस्थाजातिधर्मादिज्ञानं च, बन्धनमित्याहार्यत्वाद् बन्धनम्। ये कुलधार्मिका आत्मीयाभिमानितकुलाचारा अन्ये च, तान् सर्वान् बन्धनं संसारकारणं संत्यजेत्।।६५।।

समस्त समयाचारों को तथा अन्य सभी कृत्यों को, समस्त संकल्प-विकल्पों को तथा अन्य भी जो कुल आदि के धर्म हैं, उन सबको बन्धन-स्वरूप मानना चाहिये।।६५।।

समय दीक्षा के बाद गुरु के द्वारा उपदिष्ट समस्त नियमों को, जिनमें—१. मेरे भक्तजनों के प्रति स्नेह, २. उनके द्वारा की गई पूजा का अनुमोदन, ३. स्वयं भक्तिपूर्वक पूजा करना, ४. मेरे लिये ही समस्त चेष्टाएँ करना, ५. मेरी कथाओं को सुनने में रुचि रखना, ६. वाणी, नेत्र [५०]आदि अंगों की विभिन्न चेष्टाएँ, ७. सदा मेरा स्मरण करना और ८. मेरे प्रति कपट व्यवहार का परित्याग—ये आठ नियम भी परिगणित हैं। इसी तरह के अन्य भी नियमों का गुरु उपदेश करते हैं। अन्य भी अनेक कृत्यों का शास्त्रों में उपदेश विहित है। इन सबको बन्धन मानना चाहिये। इसी तरह इच्छारूप मन का संकल्प तथा अपनी पूर्व जाति, धर्म, स्थिति आदि के विषय में नाना प्रकार के विकल्प भी बन्धन के कारण हैं। अपनी जाति, कुल आदि के अभिमान के साथ जुड़े हुए कुलाचार और अन्य विधि-विधान भी संसार के बन्धन को दृढ करने वाले हैं, ऐसा अच्छी तरह से समझ लेना चाहिये।।६५।।

सिद्धीश्च विविधाकाराः पातालादि रसायनम् ।
प्रत्यक्षेणापि लभ्येरन् नैव गृह्णीत साधकः ।।६६।।
सर्वे ते पशुबन्धाः स्युरधोमार्गप्रदायकाः ।
एतैर्नास्ति परा मुक्तिश्चिद्रूपं व्यापकं विना ।।६७।।

अधोमार्गप्रदायका: पुनरावृत्तिपरप्रेर्यत्वादिरूपभूताधोमार्गप्रदायका अधोमार्ग-प्रदातार एते पूर्वोक्ता: सर्वे समस्ता: कृत्यानि पशुबन्धा: पशुविषयसादृश्यरूपदोषा(ष)-जनितज्ञानमात्रनिवर्त्यशुक्तिकारजतरज्जुसर्पादिविपर्ययजनकमूलभ्रान्तिव्यतिरिक्तपीत-शङ्खद्विचन्द्रादिविपर्ययज्ञानमूलचक्षुर्वैद्यचिकित्सारूपक्रियानिवर्तककाचकामलपटलादिनेत्र-दोषवद् दीक्षारूपशिवानुग्रहात्मिकया निवर्त्यभूता सकलमायाजननमूलभूतानेकात्मावार-

---

५०. भक्तजनों में वाणी का विकार स्वरभंग (वाणी का लड़खड़ाना) के, नेत्र का विकार अश्रुपात के और शरीर का विकार रोमांच के कारण प्रतीत होता है।

कानेकशक्तिसमवेतानाद्यविद्यापरपर्यायश्रुतपशुत्ववासनया समवेतपशुवर्गाणां बन्धाः स्युर्भवेयुः, व्यापकं सर्वत्रावस्थितं चिद्रूपं चैतन्यं विना तस्याभावे, एतैः पूर्वोक्तैः परा सर्वातीता मुक्तिर्मोक्षो नास्ति।।६६-६७।।

पाताल-गमन, रस-रसायन आदि नाना प्रकार की सिद्धियाँ प्रत्यक्ष उपलब्ध हो रही हों, तो भी साधक को इन्हें कभी स्वीकार नहीं करना चाहिये। ये सब सिद्धियाँ मनुष्य को पाशव भाव में ही बाँधे रहती हैं और उसे अधोमार्ग में गिरा देती हैं। इनसे साधक को कभी परम मुक्ति नहीं मिल सकती। उसकी प्राप्ति तो व्यापक चिद्रूप का साक्षात्कार होने पर ही होती है।।६६-६७।।

ये सारी सिद्धियाँ मनुष्य को अधोमार्ग में ढकेल देती हैं। पुनरावृत्ति और दूसरे क्षुद्र लोगों से प्रेरणा प्राप्त करना जैसे अधोमार्ग की ओर उसे खींच ले जाती हैं, अतः इस तरह के सभी कृत्य साधक को पशुओं की-सी बन्धन की स्थिति में पहुँचा देते हैं। अज्ञानी जीवों के समान ही सिद्धि का लोभी साधक अनेक दोषों से घिर जाता है। शुक्ति में रजत का भ्रम, रज्जु में सर्प का भ्रम जैसे वस्तुओं के सही ज्ञान से निवृत्त हो जाता है, किन्तु विपर्यय ज्ञान से जनित इस प्रकार की भ्रान्ति से भिन्न पीतशंख, द्विचन्द्र आदि की जो विपरीत प्रतीति होती है, उसकी निवृत्ति तो आँख के चिकित्सक के द्वारा शल्यक्रिया करने पर ही होती है। इसी तरह से सिद्धियों के जाल में फँसे हुए साधक का भी केवल ज्ञानमात्र से उद्धार नहीं होपाता, उसके लिये तो शिव के अनुग्रह से प्राप्त होने वाला दीक्षारूपी व्यापार ही उसके पाशव बन्धन को काट सकता है। अन्यथा समस्त मायीय अज्ञान के मूलकारण, अनेक आत्माओं पर एक साथ अज्ञान का आवरण फैला देने वाले, अनेक शक्तियों से सम्पन्न अनादि काल से चले आ रहे अविद्या (अज्ञान) नामक मल के कारण वह पशुत्व की वासना से घिर कर अन्य पशुओं के समान ही पुनः बन्धन में पड़ सकता है। उसे समझ लेना चाहिये कि इन क्षुद्र सिद्धियों से कुछ नहीं मिलने वाला है। उस सर्वत्र व्यापक शुद्ध चैतन्य स्वरूप को जाने बिना सर्वोत्तम सिद्धि मोक्ष की प्राप्ति कभी नहीं हो सकती।।६६-६७।।

येन केन विशेषेण सर्वावस्थोऽपि योगधृक्।
क्षेत्रपीठे च सन्देहाद् वर्जयेद्यदि कौतुकम्।।६८।।

पूर्वोक्तयोगाद् जीवन्मुक्तो येन केन विशेषेण सर्वावस्थोऽपि समस्तावस्थोऽपि क्षेत्रपीठे च कौतुकम् अभिलाषं यदि संदेहाद् विवर्जयेत् त्यजेत्।।६८।।

सभी स्थितियों में समाधि की सी अवस्था में रहनेवाला शिवयोगी जिस किसी भी उपाय से अपने समस्त सन्देहों को दूर कर ले और विविध क्षेत्रपीठों की यात्रा के कौतुक को भी मिटा ले।।६८।।

पूर्व प्रदर्शित योगविधि से जीवन्मुक्त अवस्था में पहुँचा हुआ योगी जिस किसी भी उपाय से सभी तरह की परिस्थितियों में यह समझ कर कि ये सब बन्धन के ही कारण हो सकते हैं, ये मुझे कहीं अधोगति की ओर न ले जाँय, ऐसा विचार करते हुए [५१]**क्षेत्र-पीठ** आदि के समस्त कौतुकों से, वहाँ दिखाई पड़ने वाली नाना प्रकार की सिद्धियों के जाल से अपने को दूर कर ले।।६८।।

कृमिकीटपतङ्गांश्च तथा देवि वनस्पतीन्।
न नाशयेद् बुधो जीवान् परमार्थमतिर्यतः ।।६९।।

हे देवि! तव बोधने कृमिकीटपतङ्गान् स्वेदजान् कृमीन् कृमिकीटपतङ्गाख्य-प्राणिभेदांश्च तथा तद्वत् जीवान् आश्वासितान् वनस्पतीन् उद्भिदस्तृणगुल्मलतादीन्, बुधः चराचराणामुत्पत्तिस्थितिज्ञानी न नाशयेत् न हन्यात्, परमार्थमतिः "आत्मनः प्रतिकूलानि परेषां न समाचरेत्" इति परमार्थबुद्धिमत्त्वात्।।६९।।

हे देवि ! कृमि, कीट, पतंग तथा वनस्पतियों को तथा समस्त प्राणियों को भी बुद्धिमान् पुरुष कभी पीड़ा न पहुँचावे, क्योंकि वह तो परोपकार के लिये जीवन समर्पित कर देता है।।६९।।

हे देवि ! तुमको सावधान कर मैं समझा रहा हूँ कि परोपकार की भावना से सम्पन्न सम्यक् बुद्धि वाले ज्ञाता को चाहिये कि वह स्वेद से उत्पन्न जूं जैसे कृमियों को, नाली में बहने वाले कीड़ों को, दीपक की लौ की तरफ दौड़ने वाले फतिंगों को, वनस्पतियों को और उसी तरह के समस्त प्राणियों को भी, अर्थात् अपने आसपास के पाले-पौसे समस्त वनस्पतियों को, तृण, गुल्म, लता आदि को तथा आसपास विचरण करने वाले समस्त पशु-पक्षियों को भी कभी बाधा न पहुँचावे। वह बुद्धिमान् पुरुष समस्त चराचरात्मक जगत् की उत्पत्ति एवं स्थिति से परिचित है, अतः उनको कभी नष्ट न करे, कभी न मारे, उन्हें कभी पीड़ा न पहुँचावे, क्योंकि वह परोपकार में ही अपना जीवन बिताता है, [५२]"सज्जन व्यक्ति को चाहिये कि वह अपने को प्रतिकूल प्रतीत होने वाले कार्यों से दूसरे को कभी हानि न पहुँचावे" इस नीति-वाक्य के अनुसार वह परमार्थ बुद्धिसम्पन्न व्यक्ति सदा परोपकार में लगा रहता है।।६९।।

न मूलोत्पाटनं कुर्यात् पत्रच्छेदं विवर्जयेत्।
भूतपीडां न कुर्वीत पुष्पाणां च निकृन्तनम्।।७०।।

---

५१. क्षेत्र पद की व्युत्पत्ति ऊपर की ४८ वीं टिप्पणी में दी गई है। पीठ पद का प्रयोग विशेष रूप से कामरूप आदि ५१ शाक्त पीठ-स्थानों के लिये किया जाता है।

५२. "आत्मनः प्रतिकूलानि परेषां न समाचरेत्" यह नीतिवाक्य पंचतन्त्र में उपलब्ध होता है। इसी शीर्षक से लिखा हमारा एक निबन्ध "निगमागमीयं संस्कृतिदर्शनम्" (पृ. २६९-२७३) में प्रकाशित हुआ है।

मूलोत्पाटनं मूलसहितगुल्मादेरुत्पाटनमुद्धृतिं न कुर्यात्, पत्रच्छेदं पत्रनिकृन्तनं न कुर्यात्, भूतपीडां स्थावरजङ्गमरूपप्राणिनां पीडां बाधां च, पुष्पाणां सुमनसां निकृन्तनं न कुर्वीत न कारयेत्।।७०।।

पेड़-पौधों को जड़ से नहीं उखाड़ना चाहिये। पत्ते नहीं तोड़ने चाहिये, प्राणियों को पीड़ा नहीं पहुँचानी चाहिये और पुष्पों को भी नहीं तोड़ना चाहिये।।७०।।

जड़ के साथ गुल्म, लता आदि को नहीं उखाड़ना चाहिये, पत्तों को भी काटना नहीं चाहिये, स्थावर-जंगमात्मक संसार के सभी प्रकार के प्राणियों को पीड़ा नहीं पहुँचानी चाहिये और पुष्पों को भी तोड़ना उचित नहीं है।।७०।।

स्वयंपतितपुष्पैस्तु कर्तव्यं शिवपूजनम् ।
मारणोच्चाटनादीनि विद्वेषस्तम्भने तथा ।।७१।।

स्वयंपतितैः पुरुषप्रयत्नं विना स्वपरिपाकतः पतितैः गलितैः पुष्पैः शिवपूजनं परमेश्वरपूजनं कुर्यात्, मारणोच्चाटनादीनि मारणम् अभिचारकर्मजनितव्याध्यादिद्वारा अकालमरणकरणम्, उच्चाटनादीनि पूर्वाश्रितसुखाश्रयोद्वेजनपलायनादिरूपाणि, तथा तद्वत् विद्वेषस्तम्भने विद्वेषः प्राणिनां हितान्योन्यविरोधकरणम्, स्तम्भनम् अग्निस्तम्भनजलस्तम्भनेन्द्रियस्तम्भनादिकम्, न कुर्यादित्युत्तरग्रन्थस्थितक्रियापद-मिहाप्यध्याहर्तव्यम्।।७१।।

अपने आप गिरे हुए पुष्पों से शिव का पूजन करना चाहिये। मारण, उच्चाटन, विद्वेषण, स्तंभन आदि कार्यों को नहीं करना चाहिये।।७१।।

पुरुष के प्रयत्न के बिना परिपक्वावस्था में अपने आप गिर गये पुष्पों से भगवान् शिव का पूजन करना चाहिये। अभिचार कर्मों के द्वारा व्याधि, कृत्या आदि को उत्पन्न कर किसी को असमय में मृत्यु के मुख में ढकेल देना **मारण** कर्म कहलाता है। मनुष्य सुखपूर्वक किसी के सहारे जी रहा हो, वहाँ से वह परेशान होकर भाग जाय, यही मन का **उच्चाटन** कहलाता है। इसी तरह से प्राणियों में परस्पर में विरोध पैदा कर देना **विद्वेष** और मनुष्य के अंगों की क्रियाशीलता को रोक देना **स्तंभन** है। अग्निस्तंभन, जलस्तंभन आदि का भी इसी में अन्तर्भाव माना गया है। इस सब कार्यों को शिवयोगी को नहीं करना चाहिये। ''न कुर्यात्'' इस क्रिया पद का अगले श्लोक से अध्याहार किया जाता है।।७१।।

ज्वरभूतग्रहावेशवश्याकर्षणमोहनम् ।
न कुर्यात् क्षुद्रकर्माणि काष्ठपाषाणपूजनम् ।।७२।।

ज्वरो वातपित्तश्लेष्मरूपज्वरजननं च, भूतो मन्त्रसामर्थ्यागतभूतकार्येणेष्टानिष्ट-कार्यकरणं च, ग्रहावेश: दिग्बन्धनादिविविधक्रियापुरस्सरं स्त्रीव्यक्तिषु पुरुषव्यक्तिषु ग्रहावेशनं च, वश्य: राजवश्यजनवश्यस्त्रीवश्यादि वश्यं च, आकर्षणं च वस्त्रा-भरणवाहनाद्यनेकभोग्यवस्त्वप्रयत्नाकर्षणं च, मोहनं सुषुप्तिविषमूर्च्छाकरणादिसदृश-मूर्च्छाकरणं चेत्युक्तानि, क्षुद्राणि भूतकर्माणि कृत्यानि, काष्ठपाषाणपूजनं काष्ठं श्वेतार्कमूलादिसंपादितलम्बोदराद्याकारकाष्ठेषु, पाषाणेषु भैरवाद्यनेकदेवताकार-पाषाणेषु, पूजनं तत्तद्देवतायोग्यवस्तुसमर्पणात्मकपूजनम्, तच्च न कुर्यात्।।७२।।

ज्वर, भूत, ग्रहावेश, वश्य, आकर्षण, मोहन जैसे क्षुद्र कर्मों का भी आचरण न करे और काष्ठ, पाषाण आदि का पूजन भी न करे।।७२।।

वात, पित्त, कफ नामक शरीर स्थित त्रिविध धातुओं में दोष उत्पन्न कर ज्वर पैदा कर देना, मन्त्र के सामर्थ्य से अपने वश में हुए भूत-पिशाच आदि की सहायता से किसी का भला-बुरा कार्य करना, दिशाओं को बांध देने जैसी नाना प्रकार की क्रियाओं की सहायता से स्त्रियों अथवा पुरुषों में ग्रह आदि को आविष्ट कर देना; राजा, सामान्य मनुष्य अथवा स्त्री आदि को वश्य में कर लेना; वस्त्र, आभूषण, वाहन आदि नाना प्रकार के भोग के साधनों का बिना प्रयत्न के **आकर्षण** कर लेना, सुषुप्ति अवस्था के समान, विष-भक्षण की अवस्था में अथवा मूर्छा आ जाने पर मनुष्य की जो स्थिति हो जाती है, वैसी स्थिति को पैदा कर देना **मोहन** कहलाता है। ये सब बहुत ही क्षुद्र कर्म हैं और इनका आचरण भी क्षुद्र प्राणी ही करते हैं, अत: इनका आचरण कभी नहीं करना चाहिये। इसी तरह से शिवयोगी को काष्ठ और पाषाण का पूजन भी नहीं करना चाहिये। सफेद आक की जड़ का आकार कभी लम्बोदर गणेश का सा बन जाता है। उसका तथा इसी तरह की काष्ठनिर्मित मूर्तियों का पूजन **काष्ठपूजन** तथा पाषाण की बनी हुई भैरव आदि अनेक देवताओं की मूर्तियों का पूजन [५३]**पाषाणपूजन** कहलाता है। इन देवताओं का पूजन उन देवताओं के लिये निर्दिष्ट [५४]द्रव्यों से किया जाता है। शिवयोगी को यह सब नहीं करना चाहिये।।७२।।

---

५३. *पाषाण-पूजन के प्रसंग में आप सन्त कबीर की उक्तियों का स्मरण कीजिये। संस्कृत भाषा में निबद्ध तन्त्रागमशास्त्र की अनभिज्ञता के कारण ही पूरे भारत में विभिन्न भाषाओं के माध्यम से विकसित साहित्य को सन्तोपज्ञ मान लिया गया है। इसकी पृष्ठभूमि में हिलोरे मारते हुए तन्त्रागम शास्त्र के महान् समुद्र की आज उपेक्षा सी कर दी गई है और उसीके परिणाम-स्वरूप यह महान् राष्ट्र विसंगतियों की शृंखला में बँध गया है।*

५४. *व्याख्याकार का अभिप्राय भैरव आदि रौद्र देवताओं की उपासना के लिये ग्राह्य मद्य, मांस, मदिरा आदि द्रव्यों से है, जिनकी सूचना तन्त्रालोक में अभिनवगुप्त ने 'ओष्ठ्यान्त्यत्रितय' (२९.९८) शब्द से दी है।*

समोऽमित्रे च मित्रे च समो लोष्टे च काञ्चने।
अभिलाषो न कर्तव्य इन्द्रियार्थे कदाचन।।७३।।

अमित्रे शत्रौ मित्रे स्नेहिते च समः समानबुद्धिः स्यादित्यध्याहर्तव्यम्, लोष्टे कपाले काञ्चने स्वर्णे च समः समानबुद्धिः स्यात् "कर्तुमिष्टमनिष्टं वा प्राप्तं प्रभुविधिना?। कर्तारमन्यमारोप्य लोकस्तु व्यतिकुप्यति।।" इत्युक्तप्रकारं ज्ञात्वा प्रारब्धपुण्यपापानुसारत इष्टानिष्टकारिणा कर्त्रा अनन्यत्वकारणात् सकलसाक्षिकत्व-रूपसमानबुद्धिरेव भवेदित्यर्थः। कदाचन कदापि। इन्द्रियार्थे इन्द्रियाणि श्रोत्रादीनि, अर्थाः शब्दादिविषयाः, तयोरभिलाष इच्छा न कर्तव्यः न कर्तुमिष्टः।।७३।।

यह शिवयोगी शत्रु और मित्र के साथ समान व्यवहार करे, सुवर्ण और मिट्टी के ढेले को समान दृष्टि से देखे और इन्द्रियों के विषयों की ओर कभी भी अभिलाषा न जतावे।।७३।।

अमित्र=शत्रु और मित्र=स्नेही पुरुष कहलाता है। इनमें समान बुद्धि रखनी चाहिये, अर्थात् इनके प्रति द्वेष अथवा स्नेह की अलग-अलग बुद्धि न रख दोनों को समान दृष्टि से देखना चाहिये। लोष्ट=मिट्टी के ढेले और कांचन= सुवर्ण के प्रति भी ऐसी ही समान बुद्धि रखनी चाहिये। किसी के कहने से यदि कोई हमारा भला या बुरा करने के लिये आता है, उस समय ऐसा देखा जाता है कि मनुष्य किसी दूसरे पर ही दोषारोपण कर उस पर गुस्सा हो जाता है, इस लौकिक प्रवृत्ति के अनुसार शिवयोगी न चले, यह सब तो अपने किये पुण्य और पाप के अनुसार ही घटित होता है, ऐसा मान कर अपना भला-बुरा करने वाले के प्रति, इसका इसमें कोई दोष नहीं है, ऐसा मानकर, सबमें वह भगवान् ही विराजमान है, इस तरह की सबके प्रति समान बुद्धि रखे। वह कभी भी आँख, कान आदि इन्द्रियों के रूप, शब्द आदि विषयों के प्रति इच्छा न जतावे, उनके प्रति कभी आकृष्ट न हो।।७३।।

जीवन्मुक्तस्य ज्ञानिनस्त्यक्तुं योग्याः पूर्वक्रियाः स्वयं पतितपुष्पैरित्याद्युक्त्वा तस्य न्यायं वदति—

आत्मारामो भवेद्योगी निर्भयो विगतस्पृहः।
समनिन्दाप्रशंसश्च सर्वभूतसमस्तथा।।७४।।

निर्भयो जरामरणादिभयशून्यः, विगतस्पृहो विशेषेण नष्टाभिलाषः, समनिन्दा-प्रशंसश्च समः समानो निन्दायामुपक्रोशे प्रशंसायां स्तुतौ समः समबुद्धिः, तथा तद्वत् सर्वभूतसमः समस्तप्राणिषु समः समानबुद्धिः, योगी अनन्ययोगयोगी, आत्मारामः आत्मनि स्वपरप्रकाशरूपे आरामः क्रीडायुक्तो भवेत्।।७४।।

"स्वयं पतितपुष्पैः" (श्लो. ७१) इत्यादि श्लोकों में शिवयोगी की पूर्वावस्था में किये जाने वाले कार्यों की सूचना दी गई है। जब वह जीवन्मुक्त स्थिति में पहुँच जाय, तब उसे कैसे रहना चाहिये, इसकी सूचना अब देते हैं—

वह शिवयोगी निर्भय, सभी प्रकार की इच्छाओं से रहित होकर अपने आप में आनन्द में डूबा रहे। निन्दा और प्रशंसा में समान रहे, अर्थात् न किसी की प्रशंसा करे और न निन्दा। इसी तरह से सभी प्राणियों के प्रति समान दृष्टि रखे।।७४।।

निर्भय का अर्थ है वृद्धावस्था, मृत्यु आदि सभी प्रकार के भय से वह मुक्त रहे। अपनी सभी प्रकार की इच्छाओं को पूरी तरह से समाप्त कर दे। कोई उसकी निन्दा करता हो, गाली-गलौज करता हो या उसकी प्रशंसा के पुल बाँधता हो, दोनों ही स्थितियों में समान मनोभाव रखे, किसी के भी प्रति द्वेष या राग बुद्धि न पैदा होने दे। इसी तरह से सभी प्राणियों में समान बुद्धि रखे, किसी को आदरणीय या निन्दनीय न समझे, सबके साथ समान व्यवहार करे। इस तरह का शिवयोग-सम्पन्न महान् योगी आत्माराम बन जाय, अर्थात् अपने स्व और पर के स्वरूप को प्रकाशित करने वाले परम प्रकाशमय आनन्दमय शिव-स्वरूप में ही सदा डूबा रहे, क्रीडा करता रहे।।७४।।

एतेन "न हृष्यत्युपकारेण नापकारेण कुप्यति। यः समः सर्वभूतेषु जीवन्मुक्तः स उच्यते।।" इत्युक्तग्रन्थानुसारेण वर्तितव्यमित्युक्तम्, "आत्मवत् सर्वभूतानि यः पश्यति स पश्यति" इत्युक्तार्थप्रतिपादनेन त्यक्तुं योग्यव्यवहारान् वदति—

समदृष्टिस्तु कर्तव्या यथात्मनि तथा परे।
विवादं लोकगोष्ठीं च कलहांश्च विवर्जयेत्।।७५।।

आत्मनि स्वस्मिन् यथा सुखदुःखानीति बुद्धिर्भवति, तथा तद्वत् परे अन्यस्मिन् समदृष्टिस्तु समबुद्धिस्तु कर्तव्या कर्तुमिष्टा। विवादं च विशेषेण वादं च वीतरागवादं च विजिगीषाकथारूपं वादं च, स्वमतस्थापनपरदूषणरूपं जल्पं च, परमतदूषमात्रां वितण्डां च, एतत् त्रितयं च वर्जयेत्। लोकगोष्ठीं च लोकैर्जनैः सह सहकृतगोष्ठीं च सभां च कलहांश्च विवर्जयेद् वर्जयेत्।।७५।।

इस स्थिति में पहुँचे हुए जीवन्मुक्त शिवयोगी का व्यवहार—"किसी के उपकार करने पर प्रसन्न नहीं होता और किसी के अपकार करने पर उस पर क्रुद्ध नहीं होता। इस तरह से सभी प्राणियों के प्रति समान व्यवहार करने वाला वह उत्तम पुरुष जीवन्मुक्त हो जाता है" इस वचन के अनुरूप हो जाता है, "जो अपने समान ही सभी प्राणियों को समझता है, उसीकी दृष्टि सही है" इस तरह के वचनों को देखते हुए शिवयोगी का व्यवहार कैसा हो, इसे अब बता रहे हैं—

शिवयोगी को अपने समान ही अन्य प्राणियों के प्रति भी समान दृष्टि रखनी चाहिये। परस्पर विवाद, अनेक लोगों के साथ मिलकर गप्पबाजी और आपस के कलह का भी उसे त्याग कर देना चाहिये।।७५।।

व्यक्ति को अपने में सुख-दुःख आदि की अनुभूति होती रहती है, इसी तरह की बुद्धि दूसरों के प्रति भी रखनी चाहिये, अर्थात् यह सदा ध्यान में रखना चाहिये कि मेरे समान ही दूसरों को भी आपस के व्यवहार से विषम अनुभूतियाँ होती हैं, अतः किसी के भी प्रति दुराव न रखे, सबको समान दृष्टि से देखे। **विवाद** शब्द के तीन तरह के अर्थ होते हैं—१. विशेष रूप से जिज्ञासा, २. बिना राग-द्वेष की शास्त्र-चर्चा तथा ३. दूसरे पर विजय प्राप्त करने की इच्छा से किया गया शास्त्रार्थ। अपने मत की स्थापना के साथ दूसरे के मत का खण्डन करना **जल्प** और केवल दूसरे के मत का खण्डन करना **वितण्डा** कहलाती है। शिवयोगी इन तीनों को छोड़ दे। अनेक व्यक्तियों के साथ मिल कर की जाने वाली गोष्ठियों, सभा-सम्मेलनों और आपस के कलह को भी छोड़ दें।।७५।।

अस्य आत्मारामयोगिनो जीवन्मुक्तस्य शास्त्रगोष्ठ्यपि सविकल्पत्वात् संसारकारणत्वात् त्यक्तुं योग्येति ग्रन्थार्धतः कथयति—

शास्त्रगोष्ठीं न कुर्वीत कुभाषितसुभाषितान् ।।७६।।

शास्त्राणां निरीश्वरवैदिकाद्यनेकेषामनेकैकात्मवादरूपाणां गोष्ठीं च, कुभाषित-सुभाषितान् परनिन्दारूपवचनानि च सुष्ठुवचनानि च न कुर्वीत।।७६।।

ऐसा आत्माराम जीवन्मुक्त शिवयोगी शास्त्रीय गोष्ठियों का भी त्याग कर दे, क्योंकि विकल्पों की उद्भावक होने से ये भी संसार की ही कारण हैं, इसी विषय को यहाँ श्लोकार्ध से बताया जा रहा है—

शिवयोगी शास्त्रीय गोष्ठियों में भी भाग न ले, क्योंकि उसमें भला-बुरा सब कुछ बोलना पड़ता है।।७६।।

निरीश्वर-सेश्वर, वैदिक-अवैदिक, एकात्मवादी-अनेकात्मवादी के भेद से शास्त्रों के अनेक प्रकार हैं। किसी शास्त्रगोष्ठी में संमिलित होने पर इनके पक्ष अथवा विपक्ष में कुभाषित या सुभाषित, स्तुति या निन्दा के वचन बोलने पड़ेंगे। इसलिये शिवयोगी को चाहिये कि वह इस तरह की शास्त्रगोष्ठियों में भी कभी भाग न ले।।७६।।

बहिरङ्गे त्याज्यवस्तून्युक्त्वाऽन्तरङ्गे त्याज्ययोग्यगुणान् कथयति—

ईर्ष्यां पैशुन्यदम्भे च रागं मात्सर्यमेव च ।
कामक्रोधौ भयं शोकं त्यज्येत् सर्वं शनैः शनैः ।।७७।।

ईर्ष्यामसूयां च पैशुन्यं पिशुनत्वं दम्भं कपटं च रागं वाञ्छामपि मात्सर्यं मत्सरत्वं च कामक्रोधौ कामं मन्मथविकारं च क्रोधं कोपं च भयं भीतिं च शोकं व्याकुलत्वं च सर्वं समस्तं शनैः शनैः मन्दं मन्दं त्यजेत्।।७७।।

बाहरी छोड़ने लायक वस्तुओं को बताकर अब अन्तरंग त्याज्य असद्भावों को बताते हैं—

ईर्ष्या, चुगलखोरी, दंभ, राग और मात्सर्य को तथा इसी तरह काम, क्रोध, भय एवं शोक को धीरे धीरे छोड़ देना चाहिये।।७७।।

ईर्ष्या=असूया, डाह को कहते हैं। पैशुन्य चुगलखोरी कहलाती है। दंभ कपट को, राग इच्छा को, मात्सर्य मत्सरता को कहा जाता है। काम का अर्थ कामजन्य विकार तथा क्रोध का अर्थ गुस्सा करना है। भय डर को तथा शोक व्याकुलता को कहते हैं। शिवयोगी को चाहिये कि वह धीरे धीरे इन सबका परित्याग कर दे।।७७।।

सर्वद्वन्द्वविनिर्मुक्तः सन्ततं जनवर्जितः ।
अनेनैव शरीरेण सर्वज्ञः सन् प्रकाशते ।।७८।।

सर्वद्वन्द्वविनिर्मुक्तः सर्वैः पुण्यपापसुखदुःखरागद्वेषक्षुत्पिपासावैराग्यावैराग्यैश्वर्यानैश्वर्यज्ञानाज्ञानद्वन्द्वैर्विनिर्मुक्तो विशेषेण शून्यः सन्ततं सततं जनवर्जितः प्राणिभिस्त्यक्तः स आत्मा अनेनैव शरीरेण वर्तमानदेहेनैव सर्वज्ञः सन् सर्वविद् भूत्वा प्रकाशते राजते।।७८।।

सभी द्वन्द्वों से छुटकारा पाकर, सदा जनसंमर्द से दूर रहते हुए शिवयोगी इसी शरीर से सर्वज्ञता को प्राप्त कर प्रकाशित हो उठता है।।७८।।

पुण्य-पाप, सुख-दुःख, राग-द्वेष, क्षुधा-पिपासा, वैराग्य-अवैराग्य, ऐश्वर्य-अनैश्वर्य, ज्ञान-अज्ञान आदि नाना प्रकार के द्वन्द्वों=परस्पर विरोधी भावों से विशेष रूप से छुटकारा पाकर, इनको पूरी तरह से समाप्त कर, सदा भीड़-भाड़ से दूर रहता हुआ वह शिवात्मा इसी वर्तमान देह में सर्वज्ञता से सम्पन्न हो प्रकाशित हो उठता है, अर्थात् शिवस्वरूप हो जाता है।।७८।।

निःश्रेयसात्मकैकफलमात्राकाङ्क्षाप्रवर्तकसाधकस्य प्रयत्नावान्तरफलतया प्राप्ताणिमादिसिद्ध्यपेक्षाप्यनुचितेत्युदाहरति—

ज्ञानेनैव यथा मोक्षस्तथा सिद्धिर्निरर्थिका ।
तथापि भोगमिच्छन्तः सिद्धिमिच्छन्ति साधकाः ।।७९।।

यथा ज्ञानेन दृशा मोक्ष एव प्रयोजनं तथा ज्ञानेन समुपार्जिता सिद्धिर्निरर्थिका निष्प्रयोजना, तथापि सिद्धयो निरर्थिका अपि भोगमिच्छन्त: साधकाचार्यादय: सिद्धिमिच्छन्ति।।७९।।

अब भगवान् शिव यह बताते हैं कि एकमात्र नि:श्रेयस फल की कामना से प्रवृत्त साधक के लिये अवान्तर फल के रूप में प्राप्त होने वाली अणिमा आदि सिद्धियों की प्राप्ति की इच्छा भी अनुचित है—

मोक्ष की प्राप्ति के लिये जैसे ज्ञान आवश्यक है, उसी तरह से सिद्धियों को प्राप्त करने के लिये भी ज्ञान का उपयोग करना निरर्थक है। तब भी साधक विभिन्न भोगों और सिद्धियों को चाहते हैं, यह आश्चर्य की ही बात है।।७९।।

शिवयोगी ज्ञान की सहायता से केवल मोक्ष-प्राप्ति रूप प्रयोजन को ही सिद्ध करता है। उस स्थिति में ज्ञान से समुपार्जित सिद्धि का कोई उपयोग नहीं रह जाता। यह आश्चर्य की ही बात है कि इस तरह से सिद्धियों के निरर्थक होने पर भी भोग की कामना वाले साधक, आचार्य आदि इनकी प्राप्ति की इच्छा रखते हैं।।७९।।

अणिमादिगुणावाप्तिर्जायतां वा न जायताम् ।
तथापि मुच्यते देही पतिं विज्ञाय निर्मलम् ।।८०।।

अणिमादिगुणावाप्ति: अणिमा आदिर्यस्य स अणिमादि:, अणिमादीनां गुणानां प्राप्ति:। आदिशब्देन तदनन्तरा महिमा, गरिमा, द्राघिमा, प्राप्ति:, प्राकाम्यम्, ईशित्वम्, वशित्वम् इत्युक्तगुणा ये बुद्धिधर्मास्तेषामवाप्ति: लाभो जायतां वा संभविष्यति वा तथाविधाणिमादिसिद्धयो भविष्यन्ति वा न वा, देही निर्मलमनादिमलशून्यं पतिं चेतनाचेतनकर्तृभूतपरमेश्वरं विज्ञाय पूर्वोक्तप्रकारेण ज्ञात्वा मुच्यते मोक्षं याति।।८०।।

अणिमा आदि गुणों की प्राप्ति हो या न हो, इनकी प्राप्ति के बिना भी साधक सबके स्वामी भगवान् शिव के निर्मल स्वरूप को जान कर मुक्त हो जाता है।।८०।।

अणिमा आदि गुणों की, अष्टसिद्धि के नाम से प्रसिद्ध अणिमा, महिमा, गरिमा, [५५]द्राघिमा, प्राप्ति, प्राकाम्य, ईशित्व और वशित्व नामक आठ सिद्धियों की, बुद्धि के

---

५५. *कोश-ग्रन्थों में 'द्राघिमा' का अर्थ लम्बाई किया है। अन्यत्र प्राय: 'लघिमा' शब्द ही प्रयुक्त हुआ है। यह भी कहा जा सकता है कि लेखक की असावधानी से यहाँ ऐसा हो गया हो।*

आठ प्रकार के गुणों की सिद्धि=प्राप्ति=लाभ शिवयोगी को हो या न हो, उसकी बुद्धि, उसका संकल्प इन सिद्धियों का निवास-स्थान बने या न बने, ये सिद्धियाँ उसे प्राप्त हों या न हों, सभी स्थितियों में शुद्ध जीवात्मा निर्मल, अनादिकालीन मल से रहित होकर चेतनाचेतनात्मक समस्त जगत् के स्वामी भगवान् शिव को ऊपर बताये ज्ञान और आचार की सहायता से जानकर अवश्य ही मुक्त हो जाता है।।८०।।

परसायुज्यस्य परशिवस्वरूपैकज्ञानैकलभ्यत्वमुक्त्वा सकलात्मवर्गस्थूलभूतात्मस्थूलशरीराधिष्ठातृत्वेन परशिवस्य समीपस्थतां व्यक्तीकरिष्यति—

पञ्चभूतात्मको देहः शिवस्तत्रैव तिष्ठति।
शिवाद्यवनिपर्यन्तो लोकोऽयं शङ्करात्मकः ।।८१।।

देहः देहिनो भुवनजदेहः पञ्चभूतात्मकः पृथिव्यादिपञ्चभूतमयः, तत्रैव एवं पञ्चभूतमयदेहे शिवः परमेश्वरस्तिष्ठति वर्तते। शिवाद्यवनिपर्यन्तः शिवतत्त्वमेव आदिर्यस्य सः, अवनितत्त्वं पर्यन्तं यस्य स शिवाद्यवनिपर्यन्तः, एवंभूतोऽयं लोकः शङ्करात्मकः परमेश्वरात्मकः परमेश्वररूपः। शिवाद्यवनिपर्यन्तः षट्त्रिंशत्तत्त्वेषु निःशेषावशेषबाह्याभ्यन्तराधिष्ठितपरशिवाकारत्वेन परशिवो मोक्षसाधको मुमुक्षुमार्गाणामदूर इत्यर्थः।।८१।।

परसायुज्य की प्राप्ति मात्र परशिव के स्वरूप के ज्ञान से ही हो सकती है, ऐसा कह कर अब बताते हैं कि सकल जीववर्ग के आत्मस्वरूप इस स्थूल शरीर के अधिष्ठाता के रूप में भगवान् का सांनिध्य सदा बना रहता है—

यह देह पंचभूतात्मक है। भगवान् शिव इसीमें रहते हैं। शिव से पृथ्वी पर्यन्त यह समस्त जगत् शंकर का ही स्वरूप है।।८१।।

प्राणी का यह विभिन्न भुवनों में पैदा हुआ शरीर पृथिवी आदि पाँच तत्त्वों से बनता है और भगवान् शिव उन तत्त्वों में विराजमान है। शिव तत्त्व से प्रारंभ कर पृथिवी तत्त्व पर्यन्त इन ३६ तत्त्वों से बना यह लोक (संसार) भगवान् शिव का ही स्वरूप है, अर्थात् इन छत्तीस तत्त्वों में, बाहर-भीतर की समस्त वस्तुओं के कण-कण में भगवान् परशिव विराजमान हैं, मुमुक्षुजनों को मुक्त करने के लिये वे कहीं दूर नहीं गये हैं, अर्थात् मुक्ति की कामना करने वाले व्यक्ति के वे सदा पास ही रहते हैं।।८१।।

पूर्वोक्तशिवानन्यतासिद्धजीवन्मुक्तस्य जीवनं स्वरूपप्रयोजनात्मकमिति सार्धग्रन्थद्वयेन प्रतिपादयिष्यति—

ईदृशं ज्ञानिनं दृष्ट्वा पूजयन्ति च ये नराः ।
गन्धं पुष्पं फलं धूपं स्नानं वस्त्रं च भोजनम् ।।८२।।
निवेदयन्ति ये केचिद् वाङ्मनःकायकर्मभिः ।
तथैव ते विमुच्यन्ते मुक्तिमार्गाभिकाङ्क्षिणः ।।८३।।
स्तुतिनिन्दाकरास्तस्य पुण्यपापे समाप्नुयुः ।

ईदृशम् एवंप्रकारभूतं ज्ञानिनं दृष्ट्वा निरीक्ष्य ये नरा मनुष्याश्च पूजयन्ति अर्चयन्ति, गन्धं कर्पूरकस्तूरीकुङ्कुमादिसंमेलितं मलयजगन्धम्, पुष्पम् अरविन्दोत्पल-जातियूथिकानवमालिकादिपुष्पं च, फलं जम्बूफलपनसफलकदलीद्राक्षासहकारादि-फलम्, धूपं लाक्षादिधूपं च, स्नानं तैलाभ्यङ्गादि, वस्त्रं पट्टादिकं च, भोजनं भक्ष्य-भोज्यलेह्यादिकम्, ये केचिद् वाङ्मनःकायकर्मभिः वागुपचाररूपा मनो विश्वासरूपं कायो निरहङ्कारतया नम्ररूपः, कर्मभिः सेवारूपक्रियाभिः सह निवेदयन्ति समर्पयन्ति, मुक्तिमार्गाभिकाङ्क्षिणो मोक्षगमनाभिलाषिणः, ते पूजका मुच्यन्ते मोक्षं प्रविशन्ति। तस्य ज्ञानिनः स्तुतिनिन्दाकराः स्तोत्रकारिणो निन्दाकारिणश्च क्रमतः पुण्यपापे पुण्यं च पापं च समाप्नुयुः।।८२-८३।।

अब पाँच पंक्तियों में यह बताया जा रहा है कि शिव के साथ एकात्मलाभ प्राप्त जीवन्मुक्त शिवयोगी का जीवन केवल अपने स्वरूप के दर्शन करते रहने मात्र के लिये रह जाता है—

इस तरह के ज्ञानी को देखकर जो मनुष्य उसकी पूजा करते हैं, उसे गन्ध, पुष्प, फल, धूप, स्नान, वस्त्र और भोजन प्रदान करते हैं, शुद्ध वाणी, मन और शरीर रूपी त्रिकाय से उन्हें सब कुछ समर्पित करते हैं, वे अवश्य ही मुक्त हो जाते हैं। इस तरह के शिवयोगी के पुण्य और पाप के भागी वे लोग होते हैं, जो उसकी स्तुति और निन्दा में लगे रहते हैं।।८२-८३।।

इस प्रकार के ज्ञान और आचार से सम्पन्न शिवयोगी को देख कर जो मनुष्य उसकी गन्ध आदि से पूजा करते हैं, वे भी मुक्त हो जाते हैं। यहाँ कपूर, कस्तूरी, केसर से मिले हुए चन्दन को गन्ध; लाल कमल, नीलकमल, वेला जैसे सुगन्धित फूल; जामुन, कटहल, केला, अंगूर, आम आदि फल; लाक्षा, अगुरु आदि से निर्मित धूप; स्नान के लिये तेल, उबटन आदि का प्रबन्ध; धोती, दुपट्टा आदि वस्त्र और विविध भक्ष्य, भोज्य, लेह्य, चोष्य का भोजन—इन सब वस्तुओं से जो कोई भी मनुष्य उस शिवयोगी

की वाणी, मन और शरीर से **त्रिकाय-सेवा** करता है, अर्थात् वाणी से संमान करता हुआ, मन से उसके प्रति पूर्ण विश्वास प्रकट करता हुआ, अहंकार का परित्याग कर पूरी नम्रता के साथ शरीर से उसकी सर्वविध सेवा करता है, मुक्तिमार्ग के अभिलाषी इस तरह के शिवयोगियों का यह भक्त पूजक भी मुक्त हो जाता है। इसके अतिरिक्त शिवयोगी की [५६]स्तुति-निन्दा में लगे हुए व्यक्ति उसके शेष जीवन के पुण्य और पाप के भागी होते हैं।।८२-८३।।

सकलशङ्कानिवृत्तिमुदितपार्वतीलालनपुरस्सरं परमेश्वरो ज्ञानाचारस्वरूपनिरूपण-पटले परिसमाप्तिं कथयति—

यद् ज्ञानाचरणं पृष्टं तत् सर्वं कथितं मया।
कालज्ञानं वरारोहे किमन्यत् परिपृच्छसि ।।८४।।

वरारोहे पार्वति, यद् ज्ञानाचरणं ज्ञानाचारात्मकं कालज्ञानं पृष्टं त्वया अनुयुक्तम्, तत्सर्वं समस्तं कालज्ञानं मया कथितम् उक्तम्। अन्यत् पूर्वप्रतिपादिताद् अन्यद् अपरं किं परिपृच्छसि।।८४।।

इति श्रीमदनन्तमुक्तिसीमन्तिनीसीमन्तसरणविहारलोलयोगीन्द्र-परमशिवानन्यतायोगयोजकेन पुरातनगीतगोप्यार्थदर्श-नेन निरञ्जनसिद्धेन सिद्धजनाभिधानेन गुरूत्तमेन कर्णाटभाषया कृतव्याख्यामवलोक्य संस्कृ-तेन व्याख्या संपूर्णीकृता

।। देवीकालोत्तरागमः सवृत्तिकः परिसमाप्तः ।।

समस्त शंकाओं की निवृत्ति हो जाने से प्रसन्नचित्त भगवती पार्वत्ती के प्रति स्नेह प्रदर्शित करते हुए भगवान् शिव ज्ञान और आचार का निरूपण करने वाले इस पटल की समाप्ति की सूचना देते हैं—

हे वरारोहे ! तुमने मुझसे ज्ञान और आचार के विषय में तथा कालज्ञान के विषय में जो पूछा, उसके उत्तर में मैंने सब कुछ बता दिया है। अब और तुम क्या पूछना चाहती हो।।८४।।

हे पार्वति ! तुमने मुझसे ज्ञान और आचार विषयक जो सामयिक प्रश्न किया, वर्तमान समय में चित्त की चंचलता को रोकने के लिये किन उपायों का सहारा लेना

---

५६. *इसी अभिप्राय के वचन उपनिषदों और आगम-तन्त्रशास्त्र के ग्रन्थों में भी मिलते हैं।*

चाहिये, इसके विषय में जानने की इच्छा प्रकट की, उसे मैंने तुम्हें पूरी तरह से समझा दिया है। अब इस संबन्ध में या किसी अन्य विषय पर तुम यदि कुछ पूछना चाहती हो तो बताओ।।८४।।

इस तरह से अनन्त मुक्तिरूपी सीमन्तिनियों के सीमन्तस्थल पर विहरण करने में निरत योगीन्द्र परमशिव के साथ अनन्यभाव से योग के योजक, पुरातन गीतों के गोप्य अर्थ को जानने वाले सिद्धजनों के द्वारा सेवित श्रेष्ठ गुरु श्रीनिरंजन सिद्ध के द्वारा कर्नाटक भाषा के व्याख्यान को देखकर संस्कृत भाषा में किया गया यह व्याख्यान समाप्त हुआ।।

।। वृत्ति के साथ यह देवीकालोत्तरागम समाप्त हुआ ।।

।। ॐ शान्तिः शान्तिः शान्तिः ।।

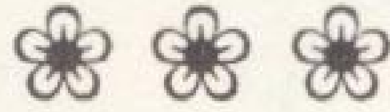
ग्रन्थ-श्लोकार्धानुक्रमणी



व्याख्योद्धृत-श्लोकार्धानुक्रमणी



ग्रन्थग्रन्थकार-मतमतान्तर सूची



विशेष पदसूची



सहायक-ग्रन्थसूची

अमरकोश — सुधा व्याख्या सहित, निर्णय सागर प्रेस, मुम्बई, सन् १९२९

अष्टप्रकरण — (तत्त्वप्रकाश-तत्त्वसंग्रह-तत्त्वत्रयनिर्णय-रत्नत्रय-भोगकारिका-नादकारिका-मोक्षकारिका-परमोक्षनिरासकारिका)। सम्पूर्णानन्द संस्कृत विश्वविद्यालय, वाराणसी, सन् १९८४

आगम और तन्त्रशास्त्र — प्रो. व्रजवल्लभ द्विवेदी, परिमल पब्लिकेशंस,, दिल्ली, सन् १९८४

आगममीमांसा — प्रो. व्रजवल्लभ द्विवेदी, लालबहादुर शास्त्री केन्द्रीय संस्कृत विद्यापीठ (मान्य विश्वविद्यालय), दिल्ली, सन् १९८२

आफ्रेख्ट बृहत्सूची — कैटलाग्स कैटलागरम् (दो भाग), इंडोलोजिकल बुक हाउस (नया संस्करण), सन् १९८९

उपनिषत्संग्रह — मोतीलाल बनारसीदास, वाराणसी-दिल्ली, सन् १९७०

कर्मकाण्डक्रमावलि — (सोमशंभुपद्धति), कश्मीर संस्कृत ग्रन्थावलि, श्रीनगर, सन् १९४७

किरणागम — (विद्यापाद), ओरियण्टल इंस्टीट्यूट, नेपोली, इटली, सन् १९७५

कूर्मपुराण — काशीराज न्यास, रामनगर, वाराणसी, परिष्कृत संस्करण, सन् १९७१

कूर्मपुराण : धर्म और दर्शन — डॉ. करुणा एस. त्रिवेदी, मोतीलाल बनारसीदास, वाराणसी-दिल्ली, सन् १९९४

कैवल्यपद्धति — निजगुण शिवयोगी, निजगुण निलय प्रकाशन, चिलुकवाड़ी, चोल्लेगाल, सन् १९८८

गुह्यादि-अष्टसिद्धिसंग्रह — दुर्लभ बौद्ध ग्रन्थ शोध योजना, केन्द्रीय उच्च तिब्बती शिक्षा संस्थान, सारनाथ, वाराणसी, सन् १९८७

ज्ञानोदयतन्त्र — केन्द्रीय उच्च तिब्बती शिक्षा संस्थान, सारनाथ, वाराणसी, सन् १९८८

तत्त्वप्रकाश — टीकाद्वय सहित, अष्टप्रकरण द्रष्टव्य।

तन्त्रयात्रा — प्रो. व्रजवल्लभ द्विवेदी, रत्ना पब्लिकेशंस, कमच्छा, वाराणसी, सन् १९८२

तन्त्रालोक — विवेक व्याख्या सहित, १२ भाग, कश्मीर संस्कृत ग्रन्थावलि, श्रीनगर, सन् १९१८-१९३८

दुर्गासप्तशती — गीता प्रेस, गोरखपुर, संवत् २०४४

देवीकालोत्तर — वृत्ति सहित, योगतन्त्र-ग्रन्थमाला-४, सम्पूर्णानन्द संस्कृत विश्वविद्यालय, वाराणसी, सन् १९७०

देवीभागवत — (दो भाग), गुरुमण्डल ग्रन्थमाला, कलकत्ता, सन् १९६०

नादकारिका — सटीक, अष्टप्रकरण द्रष्टव्य।

नारदीय महापुराण — नाग पब्लिकेशंस, जवाहर नगर, दिल्ली, सन् १९८४

नित्याषोडशिकार्णव — टीकाद्वय सहित, योगतन्त्र ग्रन्थमाला - १, सम्पूर्णानन्द संस्कृत विश्वविद्यालय, वाराणसी, द्वितीय संस्करण, सन् १९८४

नेत्रतन्त्र — क्षेमराज कृत उद्योत टीका सहित, परिमल पब्लिकेशंस, दिल्ली, सन् १९८५

न्यू कैटलागस् कैटलागरम् — (१३ भाग), मद्रास विश्वविद्यालय, मद्रास, सन् १९६८-१९९१

पंचतन्त्र — फ्रेंकलिन एजर्टन संस्करण, ओरियण्टल बुक एजेंसी, पूना, सन् १९३०

परमोक्षनिरासकारिका — सटीक, अष्टप्रकरण द्रष्टव्य।

परशुरामकल्पसूत्र — गायकवाड़ ओरियण्टल सिरीज, बड़ोदरा, सन् १९५०

पातंजल योगसूत्र — भाष्य-व्याख्या सहित, आनन्दाश्रम संस्कृत सिरीज, पूना, सन् १९३२

पारमेश्वरागम — भाषानुवाद सहित, शैवभारती शोध प्रतिष्ठान, जंगमवाड़ी मठ, वाराणसी, सन् १९९५

पौष्करागम — उद्धृत, पौष्करसंहिता, श्रीज्ञानसंबन्ध विलास मुद्राक्षरशाला चिदम्बरम्, सन् १९२५ (ग्रन्थलिपि)।

प्रतिष्ठालक्षणसारसमुच्चय — (दो भाग), वैरोचन शिवाचार्य कृत, नेपाल राजकीय प्रकाशन, काठमाण्डू, संवत् २०२३, २०२५

प्रत्यभिज्ञाहृदय — मोतीलाल बनारसीदास, वाराणसी-दिल्ली, सन् १९६३

प्रपंचसार — (दो भाग), आगमानुसन्धान समिति, कलकत्ता, द्वितीय संस्करण, सन् १९८५

भगवद्गीता — भास्कर भाष्य सहित, सम्पूर्णानन्द संस्कृत विश्वविद्यालय, वाराणसी, सन् १९६५

भगवद्गीता — मूलमात्र, गीताप्रेस, गोरखपुर, षष्ठ संस्करण, संवत् २०१०

भागवत महापुराण — मूलमात्र, गीताप्रेस, गोरखपुर, षष्ठ संस्करण, संवत् २०१०

भारतीय तन्त्रशास्त्र — गोष्ठी विवरण, केन्द्रीय उच्च तिब्बती शिक्षा संस्थान, सारनाथ, वाराणसी, सन् १९९५

मतंगपारमेश्वर — दो भाग, चार पाद, फ्रेंच शोध संस्थान, पांडिचेरी, सन् १९७७, १९८२

मनुस्मृति — भाषानुवाद सहित, निर्णयसागर प्रेस, मुम्बई, तृतीय संस्करण, सन् १९२९

महार्थमंजरी — परिमलव्याख्या सहित, सम्पूर्णानन्द संस्कृत विश्वविद्यालय, वाराणसी, द्वितीय संस्करण, सन् १९९२

मालिनीविजयतन्त्र — कश्मीर संस्कृत ग्रन्थावलि, श्रीनगर सन् १९२२

मृगेन्द्रागम — विद्या एवं योग पाद, कश्मीर संस्कृत ग्रन्थावलि, श्रीनगर, सन् १९३०

मृगेन्द्रागम — क्रिया एवं चर्या पाद, फ्रेंच शोध संस्थान, पांडिचेरी, सन् १९६२

मोक्षकारिका — सटीक, अष्टप्रकरण द्रष्टव्य।

यतीन्द्रमतदीपिका — आनन्दश्रम संस्कृत सिरीज, पूना, सन् १९३४

रत्नत्रय — सटीक, अष्टप्रकरण द्रष्टव्य।

लिङ्गपुराण — गुरुमण्डल ग्रन्थमाला, मनसुखराय मोर, कलकत्ता, सन् १९६०

लुप्तागमसंग्रह — द्वितीय भाग, उपोद्घात, सम्पूर्णानन्द संस्कृत विश्वविद्यालय, वाराणसी, सन् १९८३

वातुलशुद्धाख्यतन्त्र — योगतन्त्र ग्रन्थमाला-३, सम्पूर्णानन्द संस्कृत विश्वविद्यालय, वाराणसी, सन् १९७०

विज्ञानभैरव — भाषा-भाष्य सहित, प्रो. व्रजवल्लभ द्विवेदी, मोतीलाल बनारसीदास, वाराणसी-दिल्ली, द्वितीय संस्करण, सन् १९८४

व्यासाक्षिणी — अवधूत सिद्ध कृति, अष्टप्रकरण, पृ. २८१ पर उद्धृत।

शारदातिलक — दो भाग, आगमानुसन्धान समिति, द्वितीय संस्करण, कश्मीर संस्कृत ग्रन्थावलि, श्रीनगर, सन् १९३४

शिवदृष्टि — सोमानन्द, उत्पलभट्ट कृत वृत्ति सहित, कश्मीर संस्कृत ग्रन्थावलि, श्रीनगर, सन् १९३४

शिवमहापुराण — पण्डित पुस्तकालय, काशी, संवत् २०२०

शिवार्चनचन्द्रिका — अप्पयदीक्षित विरचित, देवसालपुरी शिवागम संघ द्वारा प्रकाशित, कुम्भघोणम्, सन् १९२२

शैवपरिभाषा — शिवाग्रयोगीन्द्र विरचित, मैसूर विश्वविद्यालय ग्रन्थमाला, मैसूर, सन् १९५०

संस्कृत साहित्य का बृहत् इतिहास — एकादश तन्त्रागम खण्ड, उत्तरप्रदेश संस्कृत संस्थान, लखनऊ, सन् १९९७

सांख्यकारिका — सांख्यतत्त्वकौमुदी सहित, चौखम्बा, संस्कृत सिरीज, वाराणसी, सन् १९३२

सात्वतसंहिता — भाष्य सहित, सम्पूर्णानन्द संस्कृत विश्वविद्यालय, वाराणसी, सन् १९८२

सार्धत्रिशतिकालोत्तर — वृत्ति सहित, फ्रेंच शोध संस्थान, पांडिचेरी, सन् १९७९

सिद्धान्तप्रकाशिका — सर्वात्मशंभु विरचित, शैवभारती शोध प्रतिष्ठान, जंगमवाड़ी मठ, वाराणसी, सन् १९९६

सिद्धान्तसारावलि — त्रिलोचन शिवाचार्य विरचित, कन्नड़ भाषानुवाद सहित, मैसूर, सन् १९३०

सिद्धान्तसारावलि — भाषा-भाष्य सहित, शैव भारती शोध प्रतिष्ठान, जंगमवाड़ी मठ, वाराणसी, सन् १९९८

सोमशंभुपद्धति — कर्मकाण्डक्रमावलि द्रष्टव्य ।

स्पन्दप्रदीपिका — योगतन्त्र ग्रन्थमाला, सं. सं. वि. वि. वाराणसी, सन् १९७०

स्वच्छन्दतन्त्र — उद्योत टीका सहित, दो भाग, परिमल पब्लिकेशंस, दिल्ली, सन् १९८५

स्वायम्भुवटीका — सद्योज्योति शिवाचार्य, इन्दिरा गांधी कला केन्द्र, नई दिल्ली, सन् १९९४

हठयोगप्रदीपिका — भाषानुवाद सहित, स्वात्माराम योगीन्द्र, मोतीलाल बनारसीदास, वाराणसी-दिल्ली, सन् १९७३

